विषय-सूची

आशीर्वाद (निबन्ध)	श्री बालमुकुन्द गुप्त	
हिन्दी साहित्य (आलोचना)	डा० श्यामसुन्दरदास	1
सालवती (कहानी)	श्री जयशंकर प्रसाद	2
मुद्राराक्षस (नाटक)	श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	5
नारी का तेज (कहानी)	श्री बलदेव उपाध्याय	7
कहानी (आलोचनात्मक निबन्ध)	प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र	8
दुखवा मैं कासे कहूँ (कहानी)	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	9
बाबू मैथिलीशरण गुप्त (स्केच)	श्री जैनेन्द्रकुमार	10
परदा (कहानी)	श्री यशपाल	11
राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (साहित्येतर विषयक निबन्ध)	श्री विनोबा भावे	12
पंच-परमेश्वर (कहानी)	श्री प्रेमचन्द	13
बापू की देन (संस्मरण)	डा० राजेन्द्रप्रसाद	14
समुद्रगुप्त पराक्रमांक (एकांकी)	प्रो० रामकुमार वर्मा	..15
उसने कहा था (कहानी)	श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	17
बुढ़ापा (शब्द-चित्र)	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	18
राजपूतानी का प्रायश्चित (कहानी)	श्री सुदर्शन	19
गौरा (संस्मरण)	श्रीमती महादेवी वर्मा	20
प्रेमचन्द का महत्त्व (आलोचनात्मक निबन्ध)	श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी	22
विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग (विचारपूर्ण निबन्ध)	पं० जवाहरलाल नेहरू	23
एक गधे की आत्मकथा (लम्बी कहानी)	श्री कृश्न चन्दर	24
'मानस' की धर्मभूमि (आलोचनात्मक लेख)	रामचन्द्र शुक्ल	25
[illegible] (साहित्येतर विषयक लेख)	श्री [illegible]	26

आशीर्वाद

[बालमुकुन्द गुप्त]

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सध्या फुर्ती के साथ पाव बढाए चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन म लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भग रगडी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ हो रहा था। बादाम-इलायची के छिलके उतारे जा रहे थे। नागपुरी नारगिया छील छीलकर रस निकाला जा रहा था। इतने म देखा कि बादल उमड रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भग, उधर घटा, बहार म बहार। इतने में वायु का वेग बढा, चीलें अदृश्य हुई। अधेरा छाया। बूदें गिरने लगी। साथ ही तडतड, धडधड, होने लगी, देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कहके शर्मा जी ने एक लोटा-भर चढाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बडे लाट मिटो ने बग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते म यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूदें गिरती थी और लार्ड मिटो के सिर या छाते पर।

भग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द म निमग्न रहे। अचानक धडधड, तडतड,

के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आंखें मलते उठे। वायु के झोंके ने किवाड़ पुर्जे-पुर्जे हुआ चाहते थे। बरामदे के टिनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दरवाजे के किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झांका तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूंदों और दो-चार ओलों से शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के भीतर भी ओलों की बौछार चल रही है। इतने में टन्-टन् करके दस बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। कान टिन और ओलों के सम्मिलन की टन्-टन् का मधुर शब्द सुनने लगे। आंखें बन्द, हाथ-पांव सुख में। पर विचार के घोड़ों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बंधा कि बड़े लाट फुर्ती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने-अपने घरों में चले गए होंगे, पर वे चीलें कहां गई होंगी? ओलों से उनके बाजू कैसे बचे होंगे? जो पक्षी इस समय अपने अंडों-बच्चों समेत पेड़ों पर पत्तों की आड़ में हैं या घोंसलों में छिपे हुए हैं, उनपर क्या गुजरी होगी? जरूर झड़े हुए फूलों के ढेर में कल सवेरे इन बदनसीबों के टूटे अण्डे, मरे बच्चे और इनके भीगे-सिसकते शरीर पड़े मिलेंगे। हां, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, पर यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी[1] अट्टालिकाओं से पूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोंपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सैकड़ों अट्टालिकाएं शून्य पड़ी हैं। उनमें सहस्रों मनुष्य हो सकते, पर उनके ताले लगे हैं और सहस्रों में केवल दो-दो, चार-चार आदमी रहते हैं। अहो, तिसपर भी इस देश की मिट्टी से बने हुए सहस्रों अभागे सड़कों के किनारे इधर-उधर की सड़ी और गली भूमियों पर पड़े भीगते हैं;

---

[1] आकाश को छूनेवाली

मैले चिथड़े लपेटे वायु, वर्षा और ओलों का सामना करते हैं। सवेरे इनमे से कितनों ही की लाशें जहां-तहां पड़ी मिलेंगी। तू इस चारपाई पर मौजे उड़ा रहा है।

आन की आन मे विचार बदला, नशा उडा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशा मे हर्ष को अधिक देर स्थिरता कहां? कभी कोई हर्षसूचक बात दस-बीस पलक के लिए चित्त को प्रसन्न कर जाए तो वही बहुत समझना चाहिए। प्यारी भंग! तेरी कृपा से कभी-कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसीसे तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नही तो यह अधबूढा भंगड़ क्या सुख का भूखा है! घावों से चूर जैसे नीद मे पडकर अपने कष्ट को भूल जाता है अथवा स्वप्न मे अपने को स्वस्थ देखता है; तुझे पीकर शिवशम्भु भी उसी प्रकार कभी-कभी अपने कष्टो को भूल जाता है!

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है। जो बात इस समय है; वह सदा न रहेगी। इससे एक अच्छा समय भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आसू रुलाती है, वही किसी दिन बडा आनद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी काली रात थी। इससे भी घोर अधेरी—भादो कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि। चारो ओर घोर अंधकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंधती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरगो मे बह रही थी! ऐसे समय मे एक दृढ पुरुष एक सद्योजात[1] शिशु को गोद मे लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था। शिशु की माता शिशु के उत्पन्न होने के हर्ष को भूलकर दुःख से विह्वल होकर चुपके-चुपके आसू गिराती थी, पुकारकर रो भी नही सकती थी। बालक उसने उस पुरुष को अर्पण किया और कलेजे पर हाथ रखकर बैठ गई।

---

[1] अभी-अभी पैदा हुए (नवजात)

सुधि आने के समय से उसने कारागार में ही आयु बिताई है। उसके कितने ही बालक वहीं उत्पन्न हुए और वहीं उसकी आंखों के सामने मारे गए। यह अन्तिम बालक है। कड़ा कारागार, विकट पहरा, पर इस बालक को वह किसी प्रकार बचाना चाहती है। इसीसे उस बालक को उसके पिता की गोद में दिया है कि वह उसे किसी निरापद स्थान में पहुंचा आवे।

वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। उसीको उस कठिन दशा में उस भयानक काली रात मे वे गोकुल पहुंचाने जाते हैं। कैसा कठिन समय था! पर दृढ़ता सब विपदों को जीत लेती है, सब कठिनाइयों को सुगम कर देती है। वसुदेव सब कष्टों को सहकर यमुना पार करके भीगते हुए उस बालक को गोकुल पहुंचाकर उसी रात कारागार में लौट आए। वही बालक आगे कृष्ण हुआ। ब्रज का प्यारा हुआ, मां-बाप की आंखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ। वही उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई; जिसके विरुद्ध हुआ उसकी पराजय हुई। वही हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव, स्वामी और सर्वस्व। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ। वहां की धूल मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

जो जेल चोर-डकैतो, दुष्ट-हत्यारो के लिए है, जब उसमे सज्जन-साधु, शिक्षित, स्वदेश और स्वजाति के शुभ-चिन्तकों के चरण-स्पर्श हों तो समझना चाहिए कि उस स्थान के दिन फिरे। ईश्वर की उसपर दया-दृष्टि हुई। साधुओ पर संकट पड़ने से शुभ दिन आते हैं। इसमे सब भारतवासी शोक-सन्ताप भूलकर प्रार्थना के लिए हाथ उठावे कि शीघ्र वह दिन आवे कि जब एक भी भारतवासी चोरी, डकैती, दुष्टता, व्यभिचार, हत्या, लूट-खसोट, जाल आदि दोषों के लिए

जेल में न जाए। जाए तो देश ग्रौर जाति की प्रीति ग्रौर शभ-चिन्ता के लिए, दीनो ग्रौर पद-दलित निर्बलो को सबलो के ग्रत्याचार से बचाने के लिए, हाकिमो को उनकी भूलो ग्रौर हार्दिक दुर्बलता से सावधान करने के लिए, ग्रौर सरकार को सुमन्त्रण देने के लिए। यदि हमारे राजा ग्रौर शासक हमारे सत्य ग्रौर स्पष्ट भाषण ग्रौर हृदय की स्वच्छता को भी दोष समझें ग्रौर हमे उसके लिए जेल भेजें तो वैसी जेल हमे ईश्वर की कृपा समझकर स्वीकार करनी चाहिए ग्रौर जिन हथकड़ियो से हमारे निर्दोष देश-बाधवो के हाथ बधें, उन्हें हेममय ग्राभूषण समझना चाहिए। इसी प्रकार यदि हमारे ईश्वर में इतनी शक्ति न हो कि वह हमारे राजा ग्रौर शासको को हमारे ग्रनुकूल कर सके ग्रौर उन्हे उदारचित्त ग्रौर न्यायप्रिय बना सके तो इतना ग्रवश्य करे कि हमें सब प्रकार के दोषो से बचाकर न्याय के लिए जेल काटने की शक्ति दे, जिससे हम समझें कि भारत हमारा है ग्रौर हम भारत के। इस देश के सिवा हमारा कहीं ठिकाना नहीं। रहें इसी देश में, चाहे जेल में, चाहे घर में। जब तक जिएं, ग्रौर जब प्राण निकल जाए तो यहीं की पवित्र मिट्टी में मिल जाएं।

--

हिन्दी साहित्य

[डा० श्यामसुन्दरदास]

साहित्य की मूल मनोवृत्तियां

मनुष्य-मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं बड़ी उत्सुकता से दूसरों के भावों और विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के संबंध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हे व्यक्त करने की चेष्टा करता है।

साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्यप्रियता की भावना कह सकते हैं। सौंदर्यप्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्गारों में 'रस' भर देता है जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द को उपलब्धि होती है और जिसे साहित्यकारों ने 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' की उपाधि दी है। सौंदर्यप्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानव-मात्र के लिए आकर्षक बना देती है।

जैसे सब मनुष्यो मे मनोवृत्तियो की मात्रा एक-सी नही होती वैसे ही सौंदर्यप्रियता की भावना उनमें समान रूप से विकसित नही होती, सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यो मे उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परन्तु इसका यह आशय नही कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य मे उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नही लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपो को समझ नही सकते।

भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावो, विचारो, आकांक्षाओ तथा कल्पनाओ का अभिव्यंजन करते है और दूसरी ओर अपने सौदर्य-ज्ञान के सहारे उन्हे सुन्दरतम बनाने तथा उनम् एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते है। इन्ही दो मूल तत्वो के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हे, हम भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष कहते है। यद्यपि साहित्य के इन दोनो पक्षो मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनो के समुचित संयोग और सामजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिए ये दोनो पक्ष अलग-अलग माने जा सकते हैं और इनपर भिन्न-भिन्न दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनो पक्षो का विकास भी होता जाता है, पर उनमे समन्वय नही बना रहता।

भाव-पक्ष

साहित्य के इन दोनो अंगो मे से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कला-पक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भाव पक्ष ही सब कुछ है, कला-

पक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक-मात्र है। साथ ही भाव-पक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है, क्योंकि मनुष्य की मनोवृत्तियां जटिल तथा दुरूह हुआ करती हैं, उनमें शृंखला तथा नियम ढूंढ निकालना सरल काम नहीं होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएं भी बड़ी विचित्र और अनोखी हुआ करती हैं। साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र और अनोखे भावों, विचारों तथा कल्पनाओं आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमें भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएं होती हैं। साहित्य में विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हमारी प्रवृत्ति सदा एक-सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य में भी अनेकरूपता दिखाई देती है। कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध आदि जो साहित्य के विभिन्न अंग हैं और इन मुख्य-मुख्य अंगों के भी जो अनेक उपांग हैं उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों के भी अनेक ढंग और उपांग होते हैं तथा उनकी भी अनेक श्रेणियां होती हैं। इन अंगों, उपांगों एवं श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव में मूल भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य में अनेकरूपता के होते हुए भी भावनामूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखते हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

कला-पक्ष

जिस प्रकार मनुष्यों में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुन्दरतम, शृंखलाबद्ध तथा चमत्कारपूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमें होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल में रहती है और इसीकी प्रेरणा से स्थूल, नीरस तथा विशृंखल

विचारो को सूक्ष्म, सरस और शृंखलावद्ध साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। भावो के अभिव्यजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यो मे पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते है। अतः शब्दो तथा वाक्यो का निरन्तर सस्कार करते रहने एव उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक भावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियो का समुचित प्रयोग तथा भाव-व्यजन की अनेक आलकारिक प्रणालियो का उपयोग भी साहित्य-ग्रन्थो की एक विशेषता है। कविता मे भावो के उपयुक्त मनोहर छदो का प्रयोग तो चिरकाल से होता आ रहा है और नित्य नवीन छदो का निर्माण भी साहित्य के कला-पक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यो का समीकरण[1], शब्दो की लाक्षणिक तथा व्यजना-मूलक शक्तियो का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढिया हैं।

विश्व-साहित्य

इस प्रकार साहित्य से भाव और कला-पक्षो का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूपमे वह देश और काल की सीमा से बद्ध नही है। यदि हम चाहे तो व्यापक दृष्टि से विश्व-भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं और स्थूल रूप से ससार के प्रसिद्ध कवियो अथवा साहित्य-निर्माताओ की विभिन्न श्रेणिया भी निरूपित कर सकते हैं।

इसमें सदेह नही कि ससार के भिन्न-भिन्न देशो के कवियो

---

[1] बराबर करना

और साहित्य-निर्माताओं की यह तुलनात्मक आलोचना बड़ी ही विशद और उपादेय होती है। इससे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य-मात्र में जातीय और स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी एक सार्वजनीन एकता है और सभी श्रेष्ठ कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में भावनामूलक साम्य भी है। निश्चय ही यह भावना मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकारिणी तथा अत्यन्त उदार होती है। उत्कृष्ट कोटि के कवियों की कल्पनाएं एक-दूसरे से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होती हैं तथा उनकी काव्य-रचना की प्रणाली भी बहुत कुछ समता लिए होती है। संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव उत्पन्न करने में इस तात्त्विक एकता का उद्घाटन तथा प्रदर्शन करना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो उन राष्ट्रों के साहित्य के मूल में है। साथ ही इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा हम अनेक देशों और समयों के कवियों की व्यक्तिगत विशेषताएं, उनकी प्रतिभा की दिशा तथा सामयिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उक्त परिचय से हमें अपने समय के साहित्य की त्रुटियों की ओर ध्यान देने और उन्हें यथाशक्ति सुधारने की चेष्टा करने की प्रेरणा हो सकती है। अवश्य ही यह साहित्य का सार्वभौम अध्ययन और आलोचन एक कठिन कार्य है तथा *विशेष सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर अनुशीलन की आवश्यकता* रखता है।

जातीय साहित्य

भौगोलिक कारणों से अथवा जलवायु के फलस्वरूप या अन्य किसी कारण से प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। यह सम्भव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित

होकर विदेशीय या विजातीय कला का अनुकरण करे तथा उनके विचारो को आख मूदकर नकल करना आरम्भ कर दे, परन्तु साहित्य के साधारण विकास म जातीय भावो तथा विचारो की छाप किसी न किसी रूप म अवश्य रहती है।

प्रत्येक सभ्य तथ स्वतन्त्र देश का अपना स्वतन्त्र साहित्य तथा अपनी स्वतन्त्र कला होती है। भारतवर्ष मे भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ का स्वतन्त्र विकास हुआ, और उनकी अपनी विशेषताए भी हुई। भारतीय साहित्य कला की विशेषताओ पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनपर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारो की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे है, हम वर्तमान स्थिति की चिन्ता रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओ म आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पडती है। यह कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योकि साहित्य और कलाए हमारे भावो तथा विचारो का प्रतिबिम्ब-मात्र है। अतएव जहा ससार की उन्नत जातियो की कुछ अपनी विशेषताए होती है, वहा उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओ का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। इन्ही साहित्यिक विशेषताओ के कारण 'जातीय साहित्य' का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहा यह प्रश्न उठता है कि क्या जातिगत विशेषताए सदा-सर्वदा पुरातन आधारो पर ही स्थित रहती है अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों मे परिवर्तन के साथ उनमे भी परिवर्तन हो जाता है? इसमे कोई सदेह नही कि समय, ससर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों म परिवर्तन हो जाता है पर उसके पुरातन आधारो का सर्वदा लोप नही होता। इन्ही पुरातन आदर्शों की नीव

पर नये आदर्शों की उद्भावना होती है। जहां कारण-विशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहां के नये आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिए, आदर्शों की धारा की अंगपुष्टि के लिए नये आदर्शरूपी स्रोतों का उनमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। जिस प्रकार किसी जाति के परंपरागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धान्त सहसा लुप्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएं भी अपनी जातीयता का लोप नही कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएं उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नही।

हिन्दी में जातीय साहित्य की योग्यता

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमे हिन्दी के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का वंशगत संबंध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिन्दी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यजित आर्य जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारो की परंपरागत सम्पत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिन्दी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिन्दी की विशेषताएं

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल मे स्थित समन्वय की भावना है, जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश मे सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओ मे भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी भी अग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटको में सुख और दु:ख के प्रबल घात प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सबका अवसान आनन्द मे ही किया गया है। इसका प्रधान कारण है यह कि भारतीयो का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करे तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय का रहस्य हमारी समझ म आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओ का विश्लेषण करते हैं तब उनमे भी साहित्य की ही भाति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है।

भारतीय साहित्य की दूसरी बडी विशेषता उसमे धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहा धर्म की बडी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नही, लौकिक आचारों-विचारो तथा राजनीति तक मे उसका नियन्त्रण

स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक[1] तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं।

साहित्य की देशगत विशेषताएं

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएं हैं, परन्तु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से ही सन्तोष करके, उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अन्तर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियां हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहा इंगलैण्ड तथा आयरलैण्ड जैसे जलावृत्त द्वीप हैं तो चीन जैसा भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से सम्बन्ध होता है, इसीको हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

---

[1] व्यक्तिगत, निजी

हिन्दी की देशगत विशेषताएं

भारत की शस्य-श्यामला भूमि मे जो निसर्गसिद्ध[1] सुषमा है, उससे भारतीय कवियो का चिरकाल से अनुराग रहा है। यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुए भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती है, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियो मे मानव-वृत्तिया विशेष प्रकार से रमती है। भारतीय कवियो को प्रकृति की सुरम्य गोद मे क्रीडा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनो मे तथा सुन्दर जलाशयो के तटो पर विचरण करते एव प्रकृति के नाना मनोहारी रूपो से परिचित होते है। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के सश्लिष्ट[2] तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अकित कर सकते हैं एव उपमा-उत्प्रेक्षाओ के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओ का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशो के निवासी कवि नही कर सकते। यह भारत भूमि की विशेषता है कि यहा के कवियो का प्रकृति-वर्णन तथा तत्सभव सौन्दर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपो से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओ के सचार मे भी करते हैं। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपो मे विविध भावनाओ के उद्रेक की क्षमता होती है, परन्तु रहस्यवादी कवियो को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपो की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपो की नही होती। यद्यपि इस

---

[1] स्वाभाविक

[2] प्रस्पष्ट

देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

हिन्दी के कला-पक्ष की विशेषताएं

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएं हमारे साहित्य के भाव-पक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कला-पक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कला-पक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संगठन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोग से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर कविता के विश्लेषण द्वारा हम कविता के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हे, परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों मे प्रथम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। अगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत (Subjective) तथा वस्तुगत (Objective) नामक विभेद हुए हैं। परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हे। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यजन होता है, केवल इस अभिव्यजन के ढग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हें तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है।

भारतीय कवियों मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहां वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियो की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीतिकाव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदो के रूप मे लिखी जाती है।

साहित्य के कला-पक्ष की अन्य महत्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय सगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदो, शब्दगत तथा अर्थगत अलकारो और अक्षरमात्रिक अथवा लघु, गुरु, मात्रिक आदि छंद-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है।

हिन्दी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमे स्वरो तथा लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरो के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश मे अत्यन्त प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक सगीतशास्त्रीय ग्रन्थो का निर्माण भी होता आया है। यहा का प्राचीन सगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परन्तु विदेशीय प्रभावो तथा अनेक देश-भेदो के फलस्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक भिन्न शाखा भी हो गई जिसका विकास निरतर होता रहा। हिन्दी साहित्य के विकास काल मे 'देशी' सगीत प्रचलित हो चुका था, अत: उसमे 'देशी' सगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागो और रागिनियो के अनेक भेदो का ठीक-ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई; साथ ही जितने सुचारु रूप से सगीत के अन्य अवयवो का विकास उसमे हुआ है उतना अन्य किसी प्रांतीय भाषा मे नही हुआ।

हिन्दी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएं

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिन्दी साहित्य के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा जिनकी छाप हिन्दी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुंचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-ग्रन्थों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उसका उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिए असम्भव-सा था। हिन्दी के स्वतन्त्र विकास में संस्कृत के इस रूप ने बड़ी-बड़ी रुकावटें डालीं।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण युग अशांति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिन्दी के प्रारम्भिक काल में देश स्वतन्त्र अवश्य था परन्तु उस समय तक उसकी स्वतन्त्रता में बाधाएं पड़ने लग गई थी और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था। देश के लिए वह हलचल तथा अशांति का युग था। उसके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई और उसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक थोड़े-बहुत अंतर से वैसी ही परिस्थिति बनी है। हमारे सम्पूर्ण साहित्य में करुणा की जो हलकी-सी अंतर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसीके परिणामस्वरूप है।

प्रगतिशील साहित्य

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिन्दी साहित्य का स्वरूप समझने में थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है; अथवा अधिक नहीं तो उसकी कुछ स्थायी विशेषताओं का ही ज्ञान हो सकता है; परन्तु केवल कुछ विशेषताओं के प्रदर्शन से साहित्य की आंशिक झलक दिखा देने से ही साहित्य का इतिहास पूरा नहीं हो सकता। उपर्युक्त बातें तो केवल एक ही सीमा तक उसके उद्देश्य की पूर्ति करती है। किसी साहित्य के इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी आंदोलन के उसपर कैसे-कैसे प्रभाव पड़े, किन-किन व्यक्तियों की प्रतिभा ने उसको कितनी और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाग

यदि हम विगत नौ सौ वर्षों की हिन्दी साहित्य की प्रगति का सिंहावलोकन करें तो कालक्रमानुसार उसके अनेक विभाग दिखाई देंगे। उसके प्रारम्भिक काल में वीरगाथाओं तथा अन्य प्रकार की वीरोल्लासिनी कविताओं की प्रधानता दिखाई देती है, यद्यपि उस काल की कविता में शृंगार अथवा प्रेम की भी झलक पाई जाती है, तथापि वे वीरता की पुष्टि के लिए आए हैं, स्वतन्त्र रूप में नहीं। जब-जब वीरों को वीरता अथवा साहस का प्रदर्शन करना होता था, तब-तब कविगण शृंगार की किसी मूर्तिमती रमणी की भी आयोजना कर लेते थे और उसके स्वयंवर आदि की कल्पना द्वारा अपनी

वीरगाथाओं में अधिक रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न करते थे। यही उस काल की विशेषता थी। इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य अपने भक्तियुग में प्रवेश करता है और उसमें वैष्णव तथा सूफी कार्य की प्रचुरता देख पड़ती है। रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवियों का यह युग हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है। इसमें हिन्दी कविता भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच गई। हिन्दी कविता की इस अभूतपूर्व उन्नति के विधायक कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूर आदि महाकवि हो गए हैं जिनकी यशोगाथा हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर हो गई है। इस युग के समाप्त होने पर हिन्दी में शृंगारी कविता की अधिकता हुई और रीतिग्रन्थों की परंपरा चली। हमारे साहित्य पर मुगल साम्राज्य की तत्कालीन सुख-समृद्धि तथा तत्संभव विलासिता की प्रत्यक्ष छाप दिखाई देती है। कला-कौशल की अभिवृद्धि के साथ-साथ हिन्दी कविता में भी कला-पक्ष की प्रधानता हो गई और फारसी साहित्य तथा संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप के परिणाम में हिन्दी के मुक्तक काव्य की अतिशयता देख पड़ने लगी। यद्यपि इस युग में शुद्ध प्रेम का चित्रण करनेवाले रसखान, घनानंद तथा ठाकुर आदि कवि भी हुए और साथ ही भूषण आदि वीर कवियों का भी यही युग था, तथापि इसके प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी तथा पद्माकर आदि ही कहलाएंगे। इनकी परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही। अंत में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्याकाश में उदित होते ही हिन्दी में एक नवीन प्रकाश फैला। यद्यपि इसकी सर्वप्रधान विशेषता गद्य-साहित्य का विकास मानी जा सकती है, पर यह नवीन प्रकाश सर्वतोमुखी था। इस युग के साहित्य में पश्चिमीय प्रणालियों तथा आदर्शों की बहुत कुछ छाप पड़ी है और हिन्दी एक नवीन रूप में ढल गई-सी जान पड़ती है। हिन्दी ही क्यों, अन्य भारतीय-भाषाएं भी बहुत कुछ पाश्चात्य

भावो के योग से प्रगतिशील हो रही हैं। इसे हम नवीन विकास का युग मान सकते हैं। अतएव हम हिन्दी साहित्य का काल-विभाग सक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं। आदियुग (वीरगाथा का युग–सवत् 1050 से 1400 तक), पूर्वमध्ययुग (भक्ति का युग–सवत् 1440 से 1700 तक), उत्तरमध्ययुग (रीति ग्रन्थो का युग–सवत् 1700 से 1000 तक), आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—सवत् 1000 से अब तक)।

काल-विभाग की त्रुटियां

परन्तु उपर्युक्त काल-विभाग तथा प्रत्येक काल की विशेषताओ के प्रदर्शन से हमारा यह आशय नही है कि एक काल के समाप्त होते ही काव्यधारा दूसरे दिन से ही दूसरी दिशा में बहने लगी और न यही अभिप्राय है कि उन विभिन्न कालो मे अन्य प्रकार की रचनाए हुई ही नही। साहित्य पर काल का प्रभाव पडता अवश्य है, परन्तु विभिन्न कालो का परिवर्तन बहुधा आकस्मिक हुआ करता है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितिया धीरे-धीरे बदलती है, एक ही दिन में वे परिवर्तित नही हो जाती। इसी प्रकार काव्यधारा भी धीरे-धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती तथा नवीन रूप धारण करती है, वह कभी एकदम से नया मार्ग नही ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यान्त्रिक क्रिया नही है कि सामाजिक आदि स्थितियो के बदलते ही तुरन्त बदल जाए। कभी-कभी तो साहित्य ही आगे बढकर समाज का नियन्त्रण करता है और उसे नये मार्ग पर लाता है। साथ ही यह भी सत्य है कि किसी-किसी काल मे सामाजिक अथवा राजनीतिक आदि स्थितियो के सुधर जाने पर भी साहित्य पिछडा ही रहता है और बडी कठिनता से समाज के साहचर्य मे आता है, उसके अनुकूल होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियो से बडा घनिष्ठ सबध होता

है परन्तु वह सम्बन्ध ऐसा यांत्रिक तथा कठोर नहीं होता कि साहित्य उन स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतन्त्र रूप से उसका विकास न हो सके।

साहित्य के इतिहास में काल-विभाग कर लेने से उसकी विभिन्न कालों की स्थिति समझने में सुगमता तो अवश्य होती है, परन्तु साथ ही यह बात न भूल जानी चाहिए कि साहित्य एक वैयक्तिक कला है; और प्रत्येक बड़े साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक विशेषताएं होती हैं। यद्यपि ये विशेषताएं देश और काल से बहुत कुछ निरूपित होती हैं, तथापि इनमें साहित्यकार के व्यक्तित्व की भी छाप होती है। प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवि अथवा लेखक कभी-कभी स्वतन्त्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का, उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना ही अधिक स्वतन्त्र तथा मौलिक विचारवाला होता है, वह समाज की लकीर पर चलना उतना ही अस्वीकार करता है और उतना ही अधिक वह साहित्य के साधारण प्रवाह से दूर पहुंच जाता है।

सालवती

[जयशंकर प्रसाद]

सदानीरा अपनी गभीर गति से उस घने साल के जगल से कतराकर चली जा रही है। सालो की श्यामल छाया उसके जल को और भी नीला बना रही है, परन्तु वह इस छायादान को अपनी छोटी-छोटी वीचियो[1] से मुस्कराकर टाल देती है। उसे तो ज्योत्स्ना से खेलना है। चैत की मतवाली चादनी परिमल से लदी थी। उसके वैभव की यह उदारता थी कि उसकी कुछ किरणो को जगल के किनारे की फूस की झोपडी पर भी बिखरना पडा।

उसी झोपडी के बाहर नदी के जल को पैर से छूती हुई एक युवती चुपचाप बैठी आकाश के दूरवर्ती नक्षत्रो को देख रही थी। उसके पास ही सत्तू का पिड रखा था। भीतर से दुर्बल कठ से किसीने पुकारा, "बेटी!"

परन्तु युवती तो आज एक अद्भुत गौरव-नारी-जीवन की सार्थकता देखकर आई है। पुष्करिणी के भीतर से कुछ मिट्टी रात में ढोकर बाहर फेकने का पारिश्रमिक चुकाने के लिए रत्नाभरणो से लदी हुई एक महालक्ष्मी बैठी थी। उसने पारिश्रमिक देते हुए पूछा, "बहन! तुम कहा रहती हो? कल फिर आना।" उन शब्दो में कितना स्नेह था! वह ममत्व क्या इन नक्षत्रो से भी दूर की वस्तु

---

[1] लहरो

नहीं। विशेषतः उसके लिए। वह तल्लीन थी। भीतर से फिर पुकार हुई।

"बेटी ! सालवती ! रात को नहा मत ! सुनती नहीं ? बेटी !"

"पिताजी !" सालवती की तंद्रा टूटी। वह उठ खड़ी हुई। उसने देखा कि वृद्ध छड़ी टेकता हुआ झोंपड़ी के बाहर आ रहा है। वृद्ध ने सालवती की पीठ पर हाथ रखकर उसके बालों को टटोला। वे रूखे थे। वृद्ध ने संतोष की सांस लेकर कहा, "अच्छा है बेटी ! तूने स्नान नहीं किया न ! मैं तनिक सो गया था। आज तू कहां चली गई थी ? अरे ! रात तो प्रहर से अधिक बीत चुकी। बेटी ! तूने आज कुछ भोजन नहीं बनाया ?"

"पिताजी ! आज मैं नगर की ओर चली गई थी। वहां पुष्करिणी बन रही है, उसीको देखने।"

"तभी तो बेटी, तुझे विलंब हो गया। अच्छा तो फिर बना ले कुछ। मुझे भी भूख लगी है। ज्वर तो अब नहीं है। थोड़ा-सा मूंग का सूप···हां रे ! मूग तो नही है ! ···अरे यह क्या है रे ?"

"पिताजी ! मैंने भी पुष्करिणी में से कुछ मिट्टी निकाली है। उसीका यह पारिश्रमिक है। मैं मूग लेने ही गई थी; परन्तु पुष्करिणी देखने की धुन में उसे लेना भूल गई।"

"भूल गई न बेटी ! अच्छा हुआ; पर तूने यह क्या किया ? वज्जियों के कुल में किसी बालिका ने आज तक···अरे ! यह तो लाजापिंड है ! बेटी ! इसे मैं न खा सकूंगा। किसी कुलपुत्र के लिए इससे बढ़कर अपमान की और कोई वस्तु नहीं। इसे फोड़ तो !"

सालवती ने उसे पटककर तोड़ दिया। पिंड टूटते ही वैशाली की मुद्रा से अंकित एक स्वर्णखंड उसमें से निकल पड़ा। सालवती का मुंह खिल उठा; किंतु वृद्ध ने कहा, "बेटी ! उसे सदानीरा में

फेंक दे।" सालवती विषाद से भरी उस स्वर्णखंड को हाथ में लिए खडी रही।

वृद्ध ने कहा, "पागल लड़की! आज उपवास न करना होगा। तेरे मिट्टी ढोने का उचित पारिश्रमिक केवल यह सत्तू है। वह स्वर्ण का चमकीला टुकड़ा नहीं।"

"पिताजी! फिर आप......"

"मैं? आज रात को भी ज्वर का लघन समझूगा! जा यह सत्तू खाकर सदानीरा का जल पीकर सो रह!"

"पिताजी! मैं भी आज की रात बिना खाए बिता सकती हू; परन्तु मेरा एक सदेह......"

"पहले उसको फेंक दे, तब मुझसे कुछ पूछ!"

सालवती ने उसे फेंक दिया। तब एक निःश्वास छोडकर बूढे ने कहना आरम्भ किया, "आर्यों का दल जो माधव के साथ ज्ञान की अग्नि मुह मे रखकर सदानीरा के इस पार पहले-पहल आया, विचारो की स्वतन्त्रता का समर्थक था। कर्मकाडियो की महत्ता और उनकी पाखड-प्रियता का विरोधी वह दल सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।

"जीवन पर उसने नये ढग से विचार करना आरम्भ किया। धर्म का ढोंग उसके लिए कुछ अर्थ नही रखता था। वह आर्यों का दल दार्शनिक था। उसने मनुष्यो की स्वतन्त्रता का मूल्य चारो ओर से आकना चाहा। और आज गगा के उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लो का जो गणतत्र अपनी ख्याति मे गर्वोन्नत है वह उन्ही पूर्वजो की कीर्ति-लेखा है।

"मैं भी उन्हीका कुलपुत्र हू। मैंने भी तीर्थंकरो के मुख से आत्मवाद-अनात्मवाद के व्याख्यान सुने हैं। सघो के शास्त्रार्थ कराए हैं। उनको चातुर्मास कराया है। मैं भी दार्शनिको मे प्रसिद्ध था।

बेटी ! तू उसी धवलयश की दुहिता होकर किसीकी दया पर अपना जीवन निर्वाह करे, यह मैं नहीं सहन कर सकता।

"बेटी, गणराज्य में जिन लोगों के पास प्रभूत[1] धन है, उन लोगों ने कुलीनों के निर्वाह के लिए गुप्त दान की प्रथा चलाई है कि अंधेरे में किसीसे थोड़ा काम कराकर उसे कुछ स्वर्ण दे दिया जाए। क्या यह अनुग्रह नहीं है बेटी ?"

"है तो पिताजी।"

"फिर यह कृतज्ञता और दया का भार तू उठावेगी ? वही हम लोगों की संतान जिन्होंने देवताओं और स्वर्ग का भी तिरस्कार किया था, मनुष्य की पूर्णता और समता का मंगल घोष किया था, अनुग्रह का आश्रय ले ?"

"नहीं पिताजी ! मैं अनुग्रह न चाहूंगी।"

"तू मेरी प्यारी बेटी है। जानती है बेटी, मैंने दार्शनिक वादों में सर्वस्व उड़ाकर अपना कौन-सा सिद्धांत स्थिर किया है ?"

"नहीं पिताजी !"

"आर्थिक पराधीनता ही संसार में दुःख का कारण है। उससे मनुष्य को मुक्ति पानी चाहिए। इसलिए मेरा उपास्य है स्वर्ण।"

"किंतु आपका देवता कहां है ?"

वृद्ध ठठाकर हंस पड़ा। उसने कहा, "मेरा उपास्य मेरी झोंपड़ी में है, इस सदानीरा में है, और है मेरे परिश्रम में।"

सालवती चकित होकर देखने लगी।

वृद्ध ने कहा, "चौंक मत बेटी ! मैं हिरण्यगर्भ का उपासक हूं। देख, सदानीरा की शिलाओं में स्वर्ण की प्रचुर मात्रा है।"

"तो क्या पिताजी ! आपने इसीलिए इन काले पत्थरों से झोंपड़ी भर रखी है ?" सालवती ने उत्साह से कहा।

---

[1] बहुत

वृद्ध ने सिर हिलाते हुए फिर अपनी झोपडी में प्रवेश किया। और सालवती, उसने घूमकर लाजापिंड को देखा भी नही। वह दरिद्रता का प्रसाद यो ही बिखरा पड़ा रहा। सालवती की आखो के सामने चन्द्रमा सुनहरा होकर सदानीरा की जलधारा को स्वर्णमयी बनाने लगा। साल के एकान्त कानन से मरमर की ध्वनि उठती थी। सदानीरा की लहरें पुलिन से टकराकर गम्भीर कलनाद कर रही थी, किन्तु यह लावण्यमयी युवती अचेतन अवस्था मे चुपचाप बैठी हुई वज्जियो की, विदेहों की अद्भुत स्वतन्त्रता पर विचार कर रही थी। उसने झुँझलाकर कहा, 'ठीक! मैं अनुग्रह नही चाहती। अनुग्रह लेने से मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतन्त्र बनाती है।"

लाजापिंड से मछलियो की उदरपूर्ति कराकर वह भूखी ही जाकर सो रही।

दूसरे दिन से वृद्ध शिलाखण्डो से स्वर्ण निकालता और सालवती उसे बेचकर आवश्यकता की पूर्ति करती। उसके साल-कानन मे चहल-पहल रहती। अतिथि, आजीवक और अभ्यागत आते, आदर-सत्कार पाते, परन्तु यह कोई न जान सका कि यह सब होता कहा से है। वैशाली मे धूम मच गई। कुतूहल से कुलपुत्र चचल हुए। परन्तु एक दिन धवलयश अपनी गरिमा में झूमता हुआ ससार से उठ गया।

सालवती अकेली रह गई। उसे स्वर्ण का उद्गम मालूम था। वह अपनी जीवनचर्या मे स्वतन्त्र बनी रही। उसका रूप और यौवन मानसिक स्वतन्त्रता के साथ सदानीरा की धारा की तरह वेगपूर्ण था।

वसत की मजरियो से पराग बरसने लगा। किसलय के कर-पल्लव से युवको को आमन्त्रण मिला। वैशाली के स्वतन्त्र नागरिक

आमोद-प्रमोद के लिए उन्मत्त हो उठे। अशोक के लाल स्तवकों[1] मधुपों का मादक गुंजार नगर-प्रान्त को संगीतमय बना रहा था। न कलशों में आसव लिए दासों के वृन्द, वसन्त कुसुमालंकृता युवतिय के दल कुलपुत्रों के साथ वनों-उपवनों में फैल गए।

कुछ मनचले उस दूरवर्ती साल-कानन में भी पहुंचे। सदानीरा के तट पर साल की निर्जन छाया में उनकी गोष्ठी जमी। इस दल में अन्य लोगों की अपेक्षा एक विशेषता थी कि इनके साथ कोई भी स्त्री न थी।

दासों ने आसन बिछा दिए। खाने-पीने की सामग्री रख दी गई। ये लोग सम्भ्रान्त कुलपुत्र थे। कुछ गम्भीर विचारक-से वे युवक देव-गंधर्व की तरह रूपवान थे। लम्बी-चौड़ी हड्डियोंवाले, व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो-एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटिल कटिबन्ध में कृपाण। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले अट्ट-बन्ध और वसन्तोत्सव के प्रधान चिह्न-स्वरूप दूर्वा और मधूक-पुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदण्ड, कुछ-कुछ आसव-पान से अरुण नेत्र, ताबूल-रजित सुन्दर अधर उस काल के भारतीय शारीरिक सौन्दर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।

वे बोलने के पहले थोड़ा मुस्कराते, फिर मधुर शब्दों में अपने भावों की अभिव्यक्ति करते थे। गिनती में वे आठ थे। उनके रथ दूर खड़े थे। दासों ने आवश्यक वस्तु सजाकर रथों के समीप आश्रय लिया। कुल-पुत्रों का पान, भोजन और विनोद चला।

एक ने कहा, "भद्र अभिनंद! अपनी वीणा सुनाओ।"

दूसरे ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अभिनन्द के संकेत पर दास ने उसकी वीणा सामने लाकर रख दी। अभिनंद बजाने लगा। सब आनन्दमग्न होकर सुनने लगे।

---

[1] गुच्छों

अभिनन्द ने एक विश्राम लिया। लोगो ने 'साधु-साधु' कहकर उसे अभिनन्दित किया। सहसा अश्वो के पद-शब्द सुनाई पडे।

सिन्धु देश के दो धवल अश्वो पर, जिनके स्वर्णालकार चमक रहे थे, चामर हिल रहे थे, पैरो मे झाझें मधुर शब्द कर रही थी, दो उच्च पदाधिकारी माननीय व्यक्तियो ने वहा पहुचकर उस गोष्ठी के लोगो को चचल कर दिया।

उनके साथ के अन्य अश्वारोही रथो के समीप ही खडे रहे, किन्तु वे दोनो गोष्ठी के समीप आ गए।

कुलपुत्रो ने एक को पहचाना। वह था उपराजा अभयकुमार। उन लोगो ने उठकर स्वागत और नमस्कार किया।

उपराजा ने अश्व पर से ही पूछा, "कुलपुत्रो की शुभकामना करते हुए मैं पूछ सकता हू कि क्या कुलपुत्रो की प्रसन्नता इसीमे है कि वे लोग अन्य नागरिको से अलग अपने वसन्तोत्सव का आनन्द आप ही लें ?"

"उपराजा के हम कृतज्ञ हैं। हम लोगो की गोष्ठी को वे प्रसन्नता से सुशोभित कर सकते हैं। हम अनुगृहीत होगे।"

"किन्तु मेरे साथ एक माननीय अतिथि हैं। पहले इनका परिचय करा दू ?"

"बडी कृपा होगी।"

"ये हैं मगधराज के महामन्त्री, वैशाली का वसन्तोत्सव देखने आए हैं।"

कुलपुत्रो ने मन मे सोचा, 'महामन्त्री चतुर है। रथ पर न चढकर अश्व की वल्गा उसने अपने हाथ में रखी है।' विनय के साथ कुलपुत्रो ने दोनो अतिथियो को घोडो से उतरने मे सहायता दी। दासो ने दोनो अश्वो को रथ के समीप पहुचाया और वैशाली के उपराजा तथा मगध के महामन्त्री कुलपुत्रो के अतिथि हुए।

महामन्त्री गूढ़ राजनीतिज्ञ था। वह किसी विशेष सिद्धि के लिए वैशाली आया था। वह संस्थागार के राजकों की मनोवृत्ति का गम्भीर अध्ययन कर रहा था। उनकी एक-एक बात, आचरण और विनय को वह तीव्र दृष्टि से देखता। उसने पूछा, "कुलपुत्रों से मैं एक बात पूछूं, यदि ये प्रसन्नता से ऐसी आज्ञा दें।"

अभिनन्द ने कहा, "अपने माननीय अतिथि को यदि हम लोग प्रसन्न कर सकें, तो अनुगृहीत होंगे।"

"वैशाली के 7077 राजकों में आप लोग भी हैं। फिर आपके उत्सव में वैराग्य क्यों? अन्य नागरिकों से आप लोगों का उत्सव विभिन्न क्यों है? आपकी गोष्ठी में ललनाएं नहीं! वह उल्लास नहीं, परिहास नही, आनन्द-उमंग नही। सबसे दूर, अलग, संगीत, आपानक से शून्य आपकी गोष्ठी विलक्षण है।"

अभयकुमार ने सोचा कि कुलपुत्र इस प्रश्न को अपमान न समझ लें। कहीं कड़ुवा उत्तर न दे दें। उसने कहा, "महामन्त्री यह जानकर प्रसन्न होंगे कि वैशाली गणतन्त्र के कुलपुत्र अपनी विशेषताओं और व्यक्तित्व को सदैव स्वतन्त्र रखते हैं।"

अभिनन्द ने कहा, "और भी एक बात है। हम लोग आठ स्वतंत्र तीर्थंकरों के अनुयायी हैं और परस्पर मित्र हैं। हम लोगो ने साधारण नागरिकों से असमान उत्सव मनाने का निश्चय किया था। मैं तो तीर्थंकर पूरण के जप के सिद्धान्त अक्रियावाद को मानता हूं। यज्ञ आदि कर्मों मे न पुण्य है न पाप। मनुष्य को इन पचड़ों में न पड़ना चाहिए।"

दूसरे ने कहा, "आर्य, मेरा नाम सुभद्र है। मैं यह मानता हूं कि मृत्यु के साथ ही सब झगड़ों का अन्त हो जाता है।"

तीसरे ने कहा, "मेरा नाम वसन्तक है। मैं संजय वेलट्ठिपुत्त का अनुयायी हूं। जीवन में हम उन्ही बातों को जानते है, जिनका

प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारे संवेदनों से है। हम किसी अनुभवातीत वस्तु को नही जान सकते।"

चौथे ने कहा, "मेरा नाम मणिकंठ है। मैं तीर्थंकर प्रकुध कात्यायन का अनुगत हू। मैं समझता हू कि मनुष्य कोई सुनिश्चित वस्तु को ग्रहण नही कर सकता। कोई सिद्धान्त स्थिर नही कर सकता।"

पांचवें ने कहा, "मैं आनन्द हूं आर्य! तीर्थंकर मस्करी गोशाल के नियतिवाद मे मेरा पूर्ण विश्वास है। मनुष्य मे कर्म करने की स्वतन्त्रता नही। उसके लिए जो कुछ होना है वह होकर ही रहेगा। वह अपनी ही गति से गन्तव्य[1] स्थान तक पहुंच जाएगा।"

छठे ने कहा, "मैं तीर्थंकर नायपुत्र का अन्तेवासी हूं। मैं कहता हूं कि वस्तु है भी, नही भी है। दोनो हो सकती है।"

सातवें ने कहा,' मैं तीर्थंकर गौतम का अनुयायी सुमंगल हूं; किसी वास्तविक सत्ता में विश्वास नही करता। आत्मन् जैसा कोई पदार्थ ही नही है।"

आठवें ने किंचित् मुस्कराकर कहा, "आर्य! मैं मैत्रायण विदेहों के सुनिश्चित आत्मवाद का माननेवाला हू। ये जितनी भावनाएं हैं, सबका उद्गम आत्मन् ही है।"

अभिनन्द ने कहा, "तब हम लोगों की विलक्षणता पर महामन्त्री को आश्चर्य होना स्वाभाविक है।"

अभयकुमार कुछ प्रकृतिस्थ हो रहा था। उसने देखा कि महामन्त्री बड़े कुतूहल और मनोनिवेश से कुलपुत्रों का परिचय सुन रहा है। महामन्त्री ने कुछ व्यंग्य से कहा, "आश्चर्य है! माननीय कुलपुत्रों ने अपने विभिन्न विचारों का परिचय देकर मुझे तो चकित

---

[1] जाने योग्य (गमनीय)

कर दिया है। तब आप लोगों का कोई एक गन्तव्य नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं? वज्जियों का तो स्थिर सिद्धान्त है ही। अर्थात् हम लोग वज्जिसंघ के सदस्य हैं। राष्ट्रनीति में हम लोगों का मतभेद शीघ्र नहीं होता।" कुलपुत्रों को चुप देखकर किसीने साल के अन्तराल से सुकोमल कण्ठ से यह कहा और नदी की ओर चला गया।

उन लोगों की आंखें उधर उस कहनेवाले को खोज रही थीं कि सामने से कलश लिए हुए सालवती सदानीरा का जल भरने के लिए आती दिखलाई पड़ी।

मगध के महामन्त्री को उस रूप-लावण्यमयी युवती का यह उत्तर थप्पड़-सा लगा। उसने कहा, "अद्भुत!"

प्रसन्नता से महामन्त्री की विमूढ़ता का आनन्द लेते हुए अभय-कुमार ने कहा, "आश्चर्य कैसा आर्य?"

"ऐसा सौन्दर्य तो मगध में मैंने कभी देखा ही नहीं। वज्जियों का संघ सब विभूतियों से सम्पन्न है। अम्बपाली, जिसके रूप पर हम लोगों को गर्व है, इस लावण्य के सामने तुच्छ है। और इसकी वाक्पटुता भी···"

"किन्तु मैंने सुना है कि अम्बपाली वेश्या है। और यह तो···" इतना कहकर अभयकुमार रुक-सा गया।

महामन्त्री ने गम्भीरता से कहा, "तब यह भी कोई कुलवधू होगी? मुझे क्षमा कीजिए।"

"यह तो पूछने से मालूम होगा।"

क्षण-भर के लिए सब चुप हो गए थे। सालवती अपना पूर्ण घट लेकर करारे पर चढ़ रही थी। अभिनन्द ने कहा, "कल्याणी! हम लोग आपका परिचय पाने के लिए उत्सुक हैं।"

"स्वर्गीय कुलपुत्र आर्य धवलयश की दुहिता सालवती के परिचय मे कोई विचित्रता नही है।" सालवती ने गम्भीरता से कहा; वह दुर्बल कटि पर पूर्ण कलश लिए कुछ रुक-सी गई थी।

मैत्रायण ने कहा, "धन्य है कुलपुत्रों का वंश! आज हम लोगो का प्रतिनिधि बनकर जो उचित उत्तर आपने मगध के माननीय मन्त्री को दिया है, वह कुलीनता के अनुरूप ही है। हम लोगो का साधुवाद ग्रहण कीजिए।"

"क्या कहू आर्य! मै उतनी सम्पन्न नही हू कि आप जैसे माननीय अतिथियों का स्वागत-सत्कार कर सकू। फिर भी जल-फल-फूल से मैं दरिद्र भी नही। मेरे साल-कानन मे आने के लिए मै आप लोगो का हार्दिक स्वागत करती हू। जो आज्ञा हो, मैं सेवा करू।"

"शुभे, हम लोगो को किसी वस्तु की आवश्यकता नही। हम लोग आपकी उदारता के लिए कृतज्ञ है।" अभिनन्द ने कहा।

"किन्तु मैं एक प्रार्थना करूगा।" महामन्त्री ने सविनय कहा।

"आज्ञा दीजिए।"

"यदि आप अन्यथा न समझे…"

"कहिए भी।"

"अभिनन्द के हाथ मे वीणा भी है! एक सुन्दर आलाप की पूर्ति कैसे होगी?" धृष्ट महामन्त्री ने कहा।

"मुझे तो सगीत की वैसी शिक्षा नही मिली जिससे आप प्रसन्न हो। फिर भी कलश रखकर आती हू।" निस्सकोच भाव से कहकर सालवती चली गई। सब चकित थे।

बेंत से बुनी हुई डाली मे थोड़े-से फल लिए हुए सालवती आई और आसन के एक भाग मे वह बैठ गई। कुलपुत्रो ने फल चखे और थोड़ी मात्रा मे आसव भी। अब अभिनन्द ने वीणा उठा ली।

अभयकुमार प्यासी आंखों से उस सौन्दर्य को देख रहा था। सालवती ने अपने गोत्र की छाप में अंकित अपने पिता से सीखा हुआ पद मधुर स्वर से गाना आरम्भ किया। श्रोता मुग्ध थे। उस संगीत का विषय था—जंगल, उसमें विचरने की प्राकृतिक स्वतन्त्रता। वह अकृत्रिम संगीत किसी डाल पर बैठी हुई कोकिल के गान से भी विलक्षण था। सब मुग्ध थे। संगीत समाप्त हुआ, किन्तु उसका स्वर-मंडल अभी उस प्रदेश को अपनी माया से आच्छन्न किए था। सालवती उठ खड़ी हुई। अभयकुमार ने एक क्षण में अपने गले से मुक्ता की एकावली निकालकर अंजलि में ले ली और कहा, "देवि यह उपहार है।"

सालवती ने गम्भीर भाव से सिर झुकाकर कहा, "बड़ी कृपा है; किन्तु मैं किसीके अनुग्रह का दाम नहीं ग्रहण करती।" और वह चली भी गई।

सब लोगों ने आश्चर्य से एक-दूसरे को देखा।

अभयकुमार को उस रात्रि में निद्रा नहीं आई। वह सालवती का चित्र अपनी पुतलियों पर बनाता रहा। प्रणय का जीवन अपने छोटे-छोटे क्षणों में भी बहुत दीर्घजीवी होता है। रात किसी तरह कटी। अभयकुमार वास्तव में कुमार था और था वैशाली का उपराजा। नगर के उत्सव का प्रबन्ध उसीके हाथ में था। दूसरा प्रभात अपनी तृष्णा में लाल हो रहा था। अभय के हृदय में निदारुण अपमान भी चुभ रहा था और चुभ रहा था उन दार्शनिक कुलपुत्रों का सव्यंग्य परिहास, जो सालवती के अनुग्रह न लेने पर उसकी स्वतन्त्रता की विजय समझकर और भी तीव्र हो उठा था।

उन कुलपुत्रों की गोष्ठी उसी साल कानन में जमी रही। अभी उन लोगों ने स्नान आदि से निवृत्त होकर भोजन भी नहीं किया

था कि दूर से तूर्यनाद सुनाई पडा । साथ मे एक राजपुरुष उच्च क
से पुकारता था

"आज अनग-पूजा के लिए वज्जियो के सघ मे से सबसे सुन्द
कुमारी चुनी जाएगी । जिसको चुनाव मे आना हो, सस्थागार मे ए
प्रहर के भीतर आ जाए ।"

अभिनन्द उछल पडा । उसने कहा, "मैत्रायण ! सालवती क
लिवा ले चलना चाहिए । ऐसा न हो कि वैशाली के सबसे उत्तम सौंद
का अपमान हो जाए ।"

"किन्तु वह अभिमानिनी चलेगी ?"

"यही तो विकट प्रश्न है !"

"हम सब चलकर प्रार्थना करें ।"

"तो चलो ।"

सब अपना दुकूल सभालते हुए सालवती की झोंपडी की ओर च
पडे । सालवती अपना नियमित भोज्य चावल बना रही थी । उस
पास थोडा दूध और फल रखा था । उसने इन लोगो को आते देखक
सहज प्रसन्नता से मुस्कराकर कहा, "स्वागत ! माननीय कुलपुत्रो क
आतिथ्य ग्रहण करने के लिए मैं निमन्त्रित करती हू ।" उसने एक शु
कम्बल बिछा दिया ।

युवको ने बैठते हुए कहा, "किन्तु हम लोग भी निमन्त्रण दे
आए है ।"

सालवती कुछ सोचने लगी ।

"हम लोगो की प्रार्थना अनुचित न होगी !" आनन्द ने कहा ।

"कहिए ।"

"वैशाली के नागरिको ने एक नया निर्णय किया है कि इस वा
वसन्तोत्सव की अनग-पूजा[1] वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के हाथ

---

[1] कामदेव की पूजा

से कराई जाए। इसके लिए संस्थागार में चुनाव होगा।"

"तो इसमें मैं क्या परिवर्तन करा सकती हूं ?" सालवती ने सरलता से पूछा।

"नहीं शुभे ! आपको भी इसमें भाग लेना होगा। हम लोग आपको संस्थागार में ले चलेंगे, और पूर्ण विश्वास है कि हम लोगों का पक्ष विजयी होगा।"

"किन्तु क्या आप लोगों का यह मुझपर अनुग्रह न होगा, जिसे मैं कदापि ग्रहण न करूंगी ?"

"नहीं भद्रे ! यदि मेरे प्रस्ताव को बहुमत मिला, तो क्या हम लोगों की विजय न होगी, और तब क्या हमीं लोग आपके अनुगृहीत न होंगे ?"

सालवती कुछ चुप-सी हो गई।

मैत्रायण ने फिर कहा, "विचारों की स्वतन्त्रता इसीमें है कि वे स्पष्ट रूप से प्रचारित किए जाएं, न कि वे सत्य होते हुए भी दबा दिए जाएं।"

सालवती इस सम्मान से अपने हृदय को अछूता न रख सकी। स्त्री के लिए उसके सौन्दर्य की प्रशंसा कितनी बड़ी विजय है ! उसने व्रीड़ा से कहा, "तो क्या मुझे चलना ही होगा ?"

"यह हम लोगों के लिए अत्यन्त प्रिय सन्देश है। आनन्द, तुम रथों को यहीं ले आओ, और मैं समझता हूं कि सौन्दर्य-लक्ष्मी तुम्हारे रथ पर ही चलेगी। तुम होगे उस रथ के सारथी।"

आनन्द सुनते ही उछल पड़ा। उसने कहा, "एक बात और भी ..."

सालवती ने प्रश्न करनेवाली आंखों से देखा।

आनन्द ने कहा, "सौन्दर्य का प्रसाधन ?"

"मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं योंही चलूंगी। और कुलपुत्रों के

निर्णय की मैं भी परीक्षा करूगी। कही वे भ्रम मे तो नही हैं।"

थोडा जलपान करके सब लोग प्रस्तुत हो गए। तब सालवती ने कहा, "आप लोग चलें, मैं अभी आती हू।"

कुलपुत्र चले गए।

सालवती ने एक नवीन कौशेय पहना, जूडे मे फूलो की माला लगाई और रथ के समीप जा पहुची।

सारथी को हटाकर आनन्द अपना रथ स्वय हाकने लगा। उसपर बैठी थी सालवती। उसके पीछे कुलपुत्रो के सात रथ थे। जब वे सस्थागार के राजपथ पर अग्रसर हो रहे थे तब भीड मे आनन्द और आश्चर्य के शब्द सुनाई पडे, सुन्दरियो का मुख अवनत हुआ। इन कुलपुत्रो को देखकर राजा ने पूछा, "मेरे माननीय दार्शनिक कुलपुत्रो ने यह रत्न कहा पाया?"

"कल्याणी सालवती कुलपुत्र धवलयश की एकमात्र दुहिता है।"

"मुझे आश्चर्य है कि किसी कुलपुत्र ने अब तक इस कन्यारत्न के परिणय की प्रार्थना क्यो नही की! अच्छा तो क्या मत लेने की आवश्यकता है?" राजा ने गम्भीर स्वर से पूछा।

"नही, नही, सालवती वज्जिराष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ कुमारी सुन्दरी है।" जनता का तुमुल शब्द सुनाई पडा।

राजा ने तीन बार इसी तरह प्रश्न किया। सबका उत्तर यही था। सालवती निर्विवाद विजयिनी हुई। तब अभयकुमार के सकेत पर पचीसो दास थालो मे रत्नो के अलकार, काशी के बहुमूल्य कौशेय, अगराग, ताबूल और कुसुम-मालिकाए लेकर उपस्थित हुए।

अभयकुमार ने खडे होकर सघ से प्रार्थना की, "मैं इस कुलकुमारी के पाणिपीडन का प्रार्थी [illegible]। कन्या के पिता नही हैं, इसलिए सघ मुझे अनुमति प्रदान करे।"

सालवती के मुह पर भय और रोष की रेखाए नाचने लगी।

वह प्रतिवाद करने जा रही थी कि मगध के महामन्त्री के समीप बैठा हुआ मणिधर उठ खड़ा हुआ। उसने तीव्र कंठसे कहा, "मेरी एक विज्ञप्ति है, यदि संघ प्रसन्नता से सुने।" यह अभय का प्रतिद्वन्द्वी सेनापति मणिधर उपराजा बनने का इच्छुक था। सब लोग किसी आशंका से उसकी ओर देखने लगे।

राजा से बोलने की आज्ञा पाकर उसने कहा, "आज तक हम लोग कुलपुत्रों की समता का स्वप्न देखते आए हैं। उनके अधिकार ने सम्पत्ति और स्वार्थों की समानता की रक्षा की है। तब क्या यह उचित होगा कि यह सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य किसी एक के अधिकार में दे दिया जाए? मैं चाहता हूं कि राष्ट्र ऐसी सुन्दरी को स्वतन्त्र रहने दे और वह अनग की पुजारिन अपनी इच्छा से अपनी एक रात्रि की दक्षिणा एक सौ स्वर्ण मुद्राएं लिया करे।"

सालवती विपत्ति में पड़ गई। उसने अपने दार्शनिक कुलपुत्रों की ओर रक्षा पाने के विचार से देखा। किन्तु उन लोगों ने घटना के इस आकस्मिक परिवर्तन को सोचा भी न था। इधर समानता का सिद्धात! सस्थागार में हलचल मच गई। राजा ने इस विज्ञप्ति पर मत लेना आवश्यक समझा। शलाकाएं बंटीं। गणपूरक अपने कार्य में लगा। और सालवती प्रार्थना करने जा रही थी कि मुझे इस उपद्रव से छुट्टी मिले।

किंतु समानता और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों की लगन! कौन सुनता है किसीकी? उधर एक व्यक्ति ने कहा, "हम लोग भी अम्बपाली के समान ही क्या वज्जिराष्ट्र में एक सौंदर्य-प्रतिमा नहीं स्थापित कर सकते, जिससे अन्य देशों का धन इस राष्ट्र मे आवे?" अभयकुमार हतबुद्धि-सा क्षोभ और रोष से काप रहा था।

उसने तीव्र दृष्टि से मगध के महामन्त्री की ओर देखा। मंत्री ने मुस्करा दिया। गणपूरक ने विज्ञप्ति के पक्ष में बहुमत की घोषणा

की। राजा ने विज्ञप्ति पर स्वीकृति दी।

जब मत लिया जा रहा था तब सालवती के मन की अवस्था बड़ी विचित्र हो रही थी। कभी तो वह सोचती थी—पिता हिरण्य[1] के उपासक थे। स्वर्ण ही संसार में प्रभु है—स्वतन्त्रता का बीज है। वही एक सौ स्वर्ण मुद्राएं उसकी दक्षिणा है और अनुग्रह करेगी वही, तिस-पर इतनी संवर्धना! इतना आदर! दूसरे क्षण उसके मन में यह बात खटकने लगती कि वह कितनी दयनीया है, जो कुलवधू का अधिकार उसके हाथ से छीन लिया गया और उसने ही तो अभय का अपमान किया था। किसलिए? अनुग्रह न लेने का अभिमान! तो क्या मनुष्य को प्रायः वही करना पड़ता है जिसे वह नहीं चाहता? उसीने मगध के महामन्त्री के सामने प्रजातन्त्र का उत्कर्ष बताया था। वही एकराज मगध का प्रतिनिधि यहां बैठा है। तब बहुमत की जय हो। वह विरोध करना चाहती थी, परन्तु कर न सकी।

उसने आनन्द के नियतिवाद का एक बार मन में स्मरण किया, और गन्तव्य पथ पर वेग से चली।

तब सालवती को घेरकर कुलपुत्रों ने आनन्द से उसका जयघोष किया। देखते-देखते सालवती के चरणों में उपहार के ढेर लग गए। वह रथ पर अनंग पूजा के स्थान पर चली—ठीक जैसे अप-राधी वध्यस्थल की ओर। उसके पीछे सहस्रों रथों और घोड़ों पर कुलपुत्र और जनस्रोत। सब आज अपने गणतन्त्र की जय पर उन्मत्त थे।

अभयकुमार जड़-सा वहीं खड़ा रहा। जब सस्थागार से निक-लने के लिए मंत्री उसके पास आया, तब अभय का हाथ दबाकर उसने कहा, "उपराजा प्रसन्न हों।"

"महामन्त्री! तुम्हारी कूटनीति सफल हुई।" कहकर अभय ने

---

[1] स्वर्ण, सोना

क्षोभ से उसकी ओर देखा।

"आप लोगों का राष्ट्र सचमुच स्वतन्त्रता और समानता का उपासक है। मैं साधुवाद देता हूं।"

दोनों अपने रथों पर चढ़कर चले गए।

सालवती, वैशाली की अप्सरा सालवती, अपने विभव और सौंदर्य में अद्वितीय थी। उसके प्रमुख उपासक थे वैशाली के सेनापति मणिधर। सम्पत्ति का स्रोत उस सौन्दर्य-सरोवर में आकर भर रहा था। वहां अनेक कुलपुत्र आए, नहीं आया तो एक अभयकुमार।

और सालवती का मान जैसे अभयकुमार को पदानत किए बिना कुचला जा रहा था। वह उस दिन की एकावली पर आज अपना पूरा अधिकार समझती थी; किन्तु वह अब कहां मिलने की!

उसका हृदय तीव्र भावों से भर गया था। आज वह चिन्तामग्न थी। मगध का युद्ध वैशाली में भयानक समाचार भेज रहा था। मगध की पूर्ण विजय के साथ यह भी समाचार मिला कि सेनापति मणिधर उस युद्ध में मारे गए। वैशाली में रोष और उत्साह छा गया। नई सेना का संचालन करने के लिए आज संस्थागार में चुनाव होनेवाला है। नगर की मुख्य महिलाएं, कुमारियां उस सेनापति का अभिनन्दन करने के लिए पुष्परथों पर चढ़कर चली जा रही हैं। उसे भी जाना चाहिए। क्या मणिधर के लिए दु:खी होना मानसिक परतन्त्रता का चिह्न नहीं है, जिसे वह कभी स्वीकार न करेगी? वह भी उठी। आज उसके शृंगार का क्या कहना है! जिसके अभिमान पर वह जी रही थी, वही उसका सौन्दर्य कितने आदर और प्रदर्शन की वस्तु है! उसे सब प्रकार से सजाकर मणियों की झिलमिल में पुष्पों से सजे हुए रथ पर चढ़कर सालवती संस्थागार की ओर चली। कुछ मनचले नवयुवकों

का जयघोष विरोध के स्वर में लुप्त हो गया। वह पीली पड़ गई।

साधारण नागरिकों ने चिल्लाकर कहा, "इसीके संसर्ग-दोष से सेनापति मणिधर की पराजय हुई।"

एक ने कहा, "यह मणिधर की काल भुजंगिनी है।"

दूसरे ने कहा, "यह वैशाली का अभिशाप है।"

तीसरे ने कहा, "यह विचार-स्वातन्त्र्य के समुद्र का हलाहल है।"

सालवती ने सारथी से कहा, "रथ फेर दो।"

किन्तु दूसरी ओर से अपार जनसमूह आ रहा था। बाध्य होकर सालवती को राजपथ में एक ओर रुकना पड़ा।

तूर्यनाद समीप आ रहा था। सैनिकों के शिरस्त्राण और भाले चमकने लगे। भालों के फलक उन्नत थे और उनसे भी उन्नत थे उन वीरों के मस्तक,जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिए प्राण देने जा रहे थे। उस वीर-वाहिनी में सिन्धु देश के शुभ्र अश्वराज पर अभयकुमार आरूढ था। उसके मस्तक पर सेनापति का स्वर्णपट सुशोभित था। दाहिनी भुजा उठी हुई थी; जिसमें नग्न खड्ग सारी जनता को अभिवादन कर रही थी और वीरों को रण-निमन्त्रण दे रही थी उसके मुख पर की सहज मुस्कान।

फूलों की वर्षा हो रही थी। 'वज्जियों की जय' के रणनाद में वायु-मण्डल गूंज रहा था। उस वीरश्री को देखने, उसका आदर करने के लिए कौन नहीं उत्सुक था! सालवती भी अपने रथ पर खड़ी हो गई थी। उसने भी एक गुरजित माला लक्ष्य साधकर फेंकी और वह उस खड्ग में जाकर लिपट गई।

जनता तो भावोन्माद की अनुचरी है। सैकड़ों कण्ठों से 'साधु' की ध्वनि निकली। अभय ने फेंकनेवाली को देखा। दोनों के नेत्र

मिले। सालवती की आंखें नीची हो रहीं। और अभय तन्द्रालस जैसा हो गया, निश्चेष्ट। उसकी तन्द्रा तब टूटी जब नवीन अश्वारोहियों का दल चतुष्पथ पर उसके स्वागत द्वार वीर-गर्जन कर उठा। अभयकुमार ने देखा, वे आठों दार्शनिक कुलपुत्र एक-एक गुल्म के नायक हैं, उसका मन उत्साह से भर उठा। उसने क्षण-भर में निश्चय किया कि जिस देश के दार्शनिक भी अस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वह पराजित नहीं होगा।

अभयकुमार ने उच्च कंठ से कहा, "कुलपुत्रों की जय!"

"सेनापति अभयकुमार की जय!" कुलपुत्रों ने प्रत्युत्तर दिया।

"वज्जियों की जय!" जनता ने जयनाद किया।

वीर सेना युद्धक्षेत्र की ओर चली और सालवती दीन-मलिन अपने उपवन को लौटी। उसने सब शृंगार उतारकर फेंक दिया। आज वह सबसे अधिक तिरस्कृत थी। वह धरणी में लोटने लगी। वसुधा पर सुकुमार यौवन-लता-सी वह जैसे निरवलम्ब पड़ी थी।

आज जैसे उसने यह अनुभव किया कि नारी का अभिमान अकिंचन है। वह मुग्धा विलासिनी, अभी-अभी संसार के सामने अपने अस्तित्व को मिथ्या, माया, सारहीन समझकर आई थी। वह अपने सुवासित अलकों को बिखराकर उसीमे अपना मुह छिपाए पड़ी थी। नीला उसकी मुंहलगी दासी थी। और वह वास्तव मे सालवती को प्यार करती थी। उसने पास बैठकर धीरे-धीरे उसके बालों को हटा, आंसू पोछे, गोद मे सिर रख लिया। सालवती ने प्रलय-भरी आंखों से उसकी ओर देखा। नीला ने मधुर स्वर से कहा, "स्वामिनी! यह शोक क्यों?"

सालवती चुप रही।

"स्वामिनी! शय्या पर चलिए। इससे तो और भी कष्ट बढ़ने की संभावना है।"

"कष्ट ? नीले, मुझे सुख ही कब मिला था ?"

'किन्तु आपके शरीर के भीतर एक अन्य प्राणी की जो सृष्टि हो रही है, उसे तो संभालना ही होगा।"

सालवती जैसे नक्षत्र की तरह आकाश से गिर पड़ी। उसने कहा, "कहती क्या है ?"

नीला हंसकर बोली, "स्वामिनी ! अभी आपको अनुभव नहीं है। मैं जानती हूं। वह मेरा मिथ्या प्रलोभन नहीं।"

सालवती सब तरह से लुट गई। नीला ने उसे शय्या पर लिटा दिया। उसने कहा, "नीले ! आज से मेरे सामने कोई न आवे। मैं किसी को मुह नहीं दिखाना चाहती। बस, केवल तुम मेरे पास बनी रहो।"

सुकोमल शय्या पर सालवती ने करवट ली। सहसा उसके सामने मणिधर का वह पत्र आया, जिसे उन्होने रणक्षेत्र से भेजा था। उसने उठाकर पढना आरम्भ किया। "वैशाली की सौन्दर्य-लक्ष्मी !" वह रुक गई। सोचने लगी, मणिधर कितना मिथ्यावादी था ! उसने एक कल्पित सत्य को साकार बना दिया। वैशाली में जो कभी न था उसने मुझे वही रूपाजीवा बनाकर क्या राष्ट्र का अनिष्ट नहीं किया ? अवश्य ! देखो, आगे लिखता है, "मेरा मन युद्ध में नहीं लगता है।" लगता कैसे रूपज्वाला के शलभ ? तुझे तो जल मरना था। तो उसे अपराध का दण्ड मिला और मैं स्वतन्त्रता के नाम पर जो भ्रम का सृजन कर रही थी, उसका क्या हुआ ? मैं सालवन की विहंगिनी ! आज मेरा सौंदर्य कहां है ? और फिर प्रसव के बाद क्या होगा ?

वह रोती रही।

सालवती के हृदय में रुदन का राज्य था। जितना ही वह

अपनी स्वतन्त्रता पर पहले सहसा प्रसन्न हो रही थी, उतना ही उस मानिनी का जीवन दुःखपूर्ण हो गया ।

वह गर्भवती थी । उपवन के बाहर न निकलती थी और न तो कोई भीतर आने पाता । सालवती ने अपने को बन्दी बना लिया ।

कई महीने बीत गए । फिर से मधुमास आया । पर सालवती का वसन्त जैसे सदा के लिए चला गया था । उसने उपवन के प्राचीर में से सुना जैसे कोई तूर्यनाद के साथ पुकार रहा था, 'वज्जियों की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अनंग-पूजा''''' आगे वह कुछ न सुन सकी । वह रोष में मूर्छित थी । विषाद से उसकी प्रसव-पीड़ा भयानक हो रही थी । नीला ने उपचार किया । वैद्य के प्रयत्न से उसी रात्रि में सालवती के एक सुन्दर-सी सन्तान हुई ।

सालवती ने अपने यौवन-वन के कुठार को देखा । द्वन्द्व से वह तड़पने लगी, मोह को मान ने पराजित किया । उसने कोमल फूलों की टोकरी में अच्छे वस्त्रों में लपेटकर उस सुकुमार शिशु को एक ओर गोधूलि की शीतल छाया में रखवा दिया । वैद्य का मुह सोने से बन्द कर दिया गया ।

उसी दिन सालवती अपने सुविशाल भवन में लौट आई ।

और उसी दिन अभयकुमार विजयी होकर अपने रथ से लौट रहा था । तब उसे एक सुन्दर शिशु मिला । अभय उसे अपने साथ ले आया ।

प्रतियोगिता का दिन था । सालवती का सौंदर्य-दर्प जागरूक हो गया था । उसने द्राक्षासव का घूट लेकर मुकुर में अपनी प्रतिच्छाया देखी । उसकी फूलों की ऋतु बीत चली है । वह अपमान से भयभीत होकर बैठ रही ।

वैशाली विजय का उत्सव मना रही थी । उधर वसन्त का भी

समारोह था। सालवती को सब लोग भूल गए और अभयकुमार—वह कदाचित् नहीं भूला—कुछ-कुछ क्रोध से, कुछ विषाद से, कुछ स्नेह से। संस्थागार में चुनाव की भीड़ थी, उसमें जो सुन्दरी चुनी गई, वह निर्विवाद नहीं चुनी जा सकी। अभयकुमार ने विरोध किया। आठों कुलपुत्रों ने उसका साथ देते हुए कहा, "जो अनुपम सौन्दर्य नहीं उसे वेश्या बनाना सौन्दर्य-बोध का अपमान करना है।" किन्तु बहुमत का शासन! चुनाव हो ही गया। वैशाली को अब वेश्याओं की अधिक आवश्यकता थी।

सालवती ने सब समाचार अपनी शय्या पर लेटे-लेटे सुना। वह हँस पड़ी। उसने नीला से कहा, "नीले! मेरे स्वर्ण-भंडार में कमी तो नहीं है?"

"नहीं स्वामिनी!"

"इसका ध्यान रखना—मुझे आर्थिक परतन्त्रता न भोगनी पड़े।"

"इसकी संभावना नहीं। आप निश्चिन्त रहें।"

किन्तु सालवती! हां, वह स्वतन्त्र थी एक कंगाल की तरह, जिसके पास कोई अधिकार, नियन्त्रण अपने पर भी नहीं—दूसरे पर भी नहीं। ऐसे आठ वसन्त बीत गए।

अभयकुमार अपने उद्यान में बैठा था। एक शुभ्र शिला पर उसकी वीणा रखी थी। दो दास उसके सुगठित शरीर में सुगन्धित तेल मर्दन कर रहे थे। सामने मंच पर एक सुन्दर बालक अपनी क्रीडा-सामग्री लिए व्यस्त था। अभय अपनी बनाई हुई कविता गुनगुना रहा था। यह बालक की अकृत्रिम[1] हँसी पर लिखी गई थी। अभय के हृदय का समस्त संचित स्नेह उसी बालक में केन्द्रीभूत था। अभय

---

[1] स्वाभाविक

ने पूछा, "आयुष्यमान् विजय ! तुम भी आज, मल्ल-शाला में चलोगे न ?"

बालक पीढ़ा छोड़कर उठ खड़ा हुआ, जैसे वह सचमुच किसी-से मल्ल-युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो। उसने कहा, "चलूंगा और लड़ूंगा भी !"

अभय ठठाकर हंस पड़ा। बालक कुछ संकुचित हो गया। फिर अभय को स्मरण हो गया कि उसे और भी कई काम हैं। वह स्नान के लिए उठने लगा कि संस्थागार की सन्निपात-भेरी बज उठी। एक बार तो उसने कान खड़े किए पर फिर अपने में लीन हो गया। मगध-युद्ध के बाद उसने किसी विशेष पद के लिए कभी अपने को उपस्थित नहीं किया। वह जैसे वैशाली के शासन में भाग लेने से उदासीन हो रहा था। स्वास्थ्य का बहाना करके उसने अवसर ग्रहण किया। उसके मगध-युद्ध के सहायक शेष दार्शनिक कुलपुत्र उसके अभिन्न मित्र थे। वे भी अविवाहित थे। अभयकुमार की गोष्ठी बिना सुन्दरियों की जमती थी। वे भी आ गए। इन सबके बलिष्ठ शरीरों पर मगध-युद्ध के वीर-चिह्न अंकित थे।

अभिनन्द ने पूछा, "आज सस्थागार में हम लोग चलेंगे कि नहीं !"

अभय ने कहा, "मुझे तो मल्ल-शाला का निमन्त्रण है।"

अभिनन्द ने कहा, "तो सचमुच हम लोग वैशाली के शासन से उदासीन हो गए है क्या ?"

सब चुप हो गए। समुद्र ने कहा, "अन्त में व्यवहार की दृष्टि से हम लोग पक्के नियतिवादी ही रहे। जो कुछ होना है, वह होने दिया जा रहा है।"

आनन्द हंस पड़ा। मणिकण्ठ ने कहा, "नहीं, हंसने से काम न चलेगा। आज जब उपवन से आ रहा था तब मैंने देखा कि

सालवती के तोरण पर बडी भीड है। पूछने से मालूम हुआ कि आठ बरस के दीर्घ एकान्तवास के बाद सौन्दर्य के चुनाव मे भाग लेने के लिए सालवती बाहर आ रही है। मैं क्षण-भर रुका रहा। वह अपने पुष्प-रथ पर निकली। नागरिको की भीड थी। कुल-वधुओ का रथ रुक रहा था। उनमे कई तेजस्विनी महिलाए थी, जिनकी गोद मे बच्चे थे।' उन्होने तीव्र स्वर मे कहा, 'यही पिशाचिनी हम लोगो के बच्चो से उनके पिताओ को, स्त्रियो से उनके पतियो को छीननेवाली है।' वह एक क्षण खडी रही। उसने कहा, 'देवियो ! मैं आठ बरस के बाद वैशाली के राजपथ पर दिखाई पडी हू। इन दिनो मैंने किसी पुरुष का मुह भी नही देखा। मुझे आप लोग क्यो कोस रही हैं ?' वे बोली, 'तूने वेश्यावृत्ति के पाप का आविष्कार किया है। तू कुलपुत्रो के वन की दावाग्नि की प्रथम चिनगारी है। तेरा मुह देखने से भी पाप है। राष्ट्र के इन अनाथ पुत्रो की ओर देख, पिशाचिनी !' कई ने बच्चो को अपनी गोद से ऊचा कर दिया। सालवती ने उन बालको की ओर देखकर रो दिया।"

"रो दिया !" अभिनन्द ने पूछा।

"हा, हा, रो दिया, और उसने कहा, 'देवियो ! मुझे क्षमा करें। मैं प्रायश्चित्त करूगी।' उसने अपना रथ बढा दिया। मैं इधर चला आया, किन्तु कुलपुत्रो से सत्य कहता हू कि सालवती आज भी सुन्दरियो की रानी है।"

अभयकुमार चुपचाप विजय को देख रहा था। उसने कहा, "तो क्या हम लोग चलेंगे ?"

"हा, हा।"

अभय ने दृढ स्वर में पूछा, "और आवश्यकता होगी तो सब प्रकार से प्रतिकार करने में पीछे न हटेंगे…"

"हां, न हटेंगे।" दृढ़ता से कुलपुत्रों ने कहा।

"तो मैं स्नान करके अभी चला। रथों को प्रस्तुत होने के लिए कह दिया जाए।"

जब अभय स्नान कर रहा था, तब कुलपुत्रों ने कहा, "आज अभय कुछ अद्भुत काम करेगा।"

आनन्द ने कहा, "जो होना होगा, वह तो होगा ही। इतनी घबराहट से क्या?"

अभय शीघ्र स्नानागार से लौट आया। उसने विजय को भी अपने रथ पर बिठाया।

कुलपुत्रों के नौ रथ संस्थागार की ओर चले। अभय के मुख पर गम्भीर चिन्ता थी और दुर्दमनीय दृढ़ता थी।

सिंहद्वार पर साधारण जनता की भीड़ थी और विशाल प्रांगण में कुलपुत्रों की और महिलाओं की। आज सौन्दर्य-प्रतियोगिता थी। रूप की हाट सजी थी। आठ भिन्न आसनों पर वैशाली की वेश्याएं भी बैठी थी। नवां आसन सूना था। अभी तक नई प्रार्थिनी सुन्दरियों में उत्साह था, किन्तु सालवती के आते ही जैसे नक्षत्रों का प्रकाश मन्द हो गया। पूर्ण चन्द्रोदय था। सालवती आज अपने संपूर्ण सौन्दर्य में यौवनवती थी। सुन्दरियां हताश हो रही थीं। कर्मचारी ने प्रतियोगिता के लिए नाम पूछा। किसीने नहीं बताया।

उसी समय कुलपुत्रों के साथ अभय ने प्रवेश किया। मगध-युद्ध-विजेता का जय-जयकार हुआ। सालवती का हृदय कांप उठा। न जाने वह क्यों अभय से डरती थी। फिर भी उसने अपने को सभालकर अभय का स्वागत किया। युवक सौन्दर्य के चुनाव के लिए उत्कण्ठित थे। कोई कहता, "नहीं, आज सालवती के सामने इसका निर्णय होगा।" परन्तु कोई सुन्दरी अपना नाम देना नहीं चाहती

थी। सालवती ने अपनी विजय से मुस्करा दिया।

उसने खडी होकर विनीत स्वर मे कहा, "यदि माननीय सघ को अवसर हो, वह मेरी विज्ञप्ति सुनना चाहे, तो मैं निवेदन करू।"

सस्थागार मे सन्नाटा था।

उसने प्रतिज्ञा उपस्थित की।

"यदि सघ प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि आज से कोई स्त्री वैशालीराष्ट्र मे वेश्या न होगी।"

कोलाहल मचा।

"और तुम अपने सिंहासन पर अचल बनी रहो। कुलवधुओ के सौभाग्य का अपहरण किया करो।" महिलाओ के तिरस्कारपूर्ण शब्द अलिन्द[1] से सुनाई पडे।

"धैर्य धारण करो देवियो! हा, तो इसपर सघ क्या आज्ञा देता है!" सालवती ने साहस के साथ तीखे स्वर मे कहा।

अभय ने प्रश्न किया, "क्या जो वेश्याए हैं, वे वैशाली मे बनी रहेगी? और क्या इस बार भी सौन्दर्य-प्रतियोगिता मे तुम अपने को विजयिनी नही समझती हो?"

'मुझे निर्वासन मिले—कारागार में रहना पडे। जो भी सघ की आज्ञा हो, किन्तु अकल्याणकर और पराजय के मूल इस भयानक नियम को, जो अभी थोडे दिनो से वज्जिसघ ने प्रचलित किया है बद करना चाहिए।"

एक कुलपुत्र ने गम्भीर स्वर मे कहा, "क्या राष्ट्र की आज्ञा से जिन स्त्रियो ने अपना सर्वस्व उसकी इच्छा पर लुटा दिया, उन्हे राष्ट्र निर्वासित करेगा, दड देगा? गणतन्त्र का पतन!"

एक ओर से कोलाहल मचा, "ऐसा भी होना चाहिए।"

---

[1] छज्जा

"फिर इन लोगों का भाग्य किस संकेत पर चलेगा ?" राजा ने गम्भीर स्वर से पूछा, "इनका कौमार्य, शील और सदाचार खंडित है। इसके लिए राष्ट्र क्या व्यवस्था करता है ?"

"संघ यदि प्रसन्न हो, उसे अवसर हो, तो मैं कुछ निवेदन करूं।" आनन्द ने मुस्कराते हुए कहा।

राजा का संकेत पाकर उसने फिर कहा, "हम आठ मगध-युद्ध के खण्डितशरीर विकलांग कुलपुत्र हैं। और ये शीलखंडिता आठ नई अनंग की पुजारिनें हैं।"

कुछ काल के बाद सूत्रधार ने पूछा, "तो क्या आठों कुलपुत्रों ने निश्चय कर लिया है ? इन वेश्याओं को वे लोग पत्नी की तरह ग्रहण करेंगे ?"

अभय ने उनकी ओर संभ्रम से देखा। वे उठ खड़े हुए। एकसाथ स्पष्ट स्वर में इन लोगों ने कहा, "हां, यदि संघ वैसी आज्ञा देने की कृपा करे।"

"संघ मौन है, इसलिए मैं समझता हूं उसे स्वीकार है।" राजा ने कहा।

"सालवती ! सालवती !!" पुकार उठी। वे आठों अभिनन्द आदि के पार्श्व में आकर खड़ी हो गई थीं; किन्तु सालवती अपने स्थान पर पाषाणी प्रतिमा की तरह खड़ी थी। यही अवसर था, जब नौ बरस पहले उसने अभयकुमार का प्रत्याख्यान किया था। पृथ्वी ने उसके पैर पकड़ लिए थे, वायुमण्डल जड़ था, वह निर्जीव थी।

सहसा अभयकुमार ने विजय को अपनी गोद में उठाकर कहा, "मुझे पत्नी तो नहीं चाहिए। हां, इस बालक की मां को खोज रहा हूं, जिसको प्रसव-रात्रि में ही उसकी मानिनी मां ने लज्जापिण्ड की तरह अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिए फेंक दिया था। उस चतुर वैद्य ने इसकी दक्षिण भुजा पर एक अमिट चिह्न अंकित कर दिया

है। उसे यदि कोई पहचान सके, तो वह इसे अपनी गोद में ले।"

सालवती पागलों की तरह झपटी। उसने चिह्न देखा, और देखा उस सुन्दर मुख को। वह अभय के चरणों पर गिरकर बोली, "यह मेरा है देव! क्या तुम भी मेरे होगे?" अभय ने उसका हाथ पकड़कर उठा लिया।

जयनाद से संस्थागार मुखरित हो रहा था।

मुद्राराक्षस

[मूल लेखक : विशाखदत्त]

[रूपांतरकार : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

प्रथम अङ्क

स्थान—चाणक्य का घर

(अपनी खुली शिखा को हाथ से फटकारता हुआ चाणक्य आता है।)

चाणक्य—बता ! कौन है जो मेरे जीते चंद्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है ?

सदा दंति के कुंभ को जो बिदारै।
ललाई नये चंद-सी जौन धारै ॥
जँभाई समै काल सो जौन बाढ़ै।
भलो सिंह को दाँत सो कौन काढ़ै ॥

और भी

काल-सर्पिणी नंद-कुल क्रोध धूम-सी जौन।
अबहूँ बाँधन देत नहिं, अहो शिखा मम कौन ?
दहन नंदकुल-वन सहज, अति प्रज्वलित प्रताप।
को मम क्रोधानल-पतंग, भयो चहत अब पाप ॥

शार्ङ्गरव ? शार्ङ्गरव ! !

(शिष्य आता है।)

शिष्य—गुरुजी ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—बेटा ! मैं बैठना चाहता हू।

शिष्य—महाराज ! इस दालान मे बेंत की चटाई पहले ही से बिछी है, आप बिराजिए।

चाणक्य—बेटा ! केवल कार्य मे तत्परता मुझे व्याकुल करती है, न कि और उपाध्यायो के तुल्य शिष्यजन से दु शीलता।[1] (बैठकर आप ही आप) क्या सब लोग यह बात जान गए कि मेरे नदवश के नाश से क्रुद्ध होकर राक्षस पितावध से दुखी मलयकेतु[2] से मिलकर यवनराज की सहायता लेकर चद्रगुप्त पर चढाई किया चाहता है ? (कुछ सोचकर) क्या हुआ जब मै नदवश की बडी प्रतिज्ञा-रूपी नदी से पार उतर चुका, तब यह बात प्रकाश होने ही से क्या मैं इसको न पूरा कर सकूगा ? क्योंकि—

दिसि सरिस रिपु-रमनी-बदन शशि शोक कारिख लाय कै।
लै नीति-पवनहि सचिव बिटपन छार डारि जराय कै॥
बिनु पुर-निवासी-पच्छिगन-नृप-बसमूल नसाय कै।
सो शात मम क्रोधाग्नि यह कछु दहन हित नहिं पाय कै॥

और भी

जिन जनन ने अति सोच सो नृप-भय प्रकट धिक् नहिं कह्यो।
पै मम अनादर को अतिहि यह सोच जिय जिनके रह्यो॥
ते लखहि आसन सो गिरायो नद सहित समाज कों।
जिमि शिखर तें बनराज क्रोधि गिरावई गजराज कों॥

सो यद्यपि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर चुका हू, तो भी चन्द्रगुप्त के हेतु शस्त्र अब भी धारण करता हू। देखो मैंने—

---

[1] अर्थात् कुछ तुम लोगो पर दुष्टता से नहीं, अपने काम की घबराहट से बिछी हुई चटाई नही देखी।

[2] पर्वतेश्वर राजा का पुत्र।

नव-नन्दन को मूल सहित खोद्यो छन भर में।
चन्द्रगुप्त में श्री राखी नलिनी जिमि सर में॥
कोप प्रीति सों एक नासि कै एक बसायो।
शत्रु-मित्र को प्रगट सबन फल लै दिखलायो॥

अथवा जब तक राक्षस नहीं पकड़ा जाता तब तक नन्दों के मारने से क्या और चन्द्रगुप्त को ही राज्य मिलने से क्या? (कुछ सोचकर) अहा! राक्षस की नंदवंश में कैसी दृढ़ भक्ति है! जब तक नंदवंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मंत्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं। यही समझकर तो नंदवंश का सर्वार्थसिद्धि बिचारा तपोवन में यत्न करता ही जाता है। (आकाश में देखकर) वाह, राक्षस मंत्री वाह! क्यों न हो! वाह, मंत्रियों में बृहस्पति के समान वाह! तू धन्य है, क्योंकि—

जब लौं रहै सुख राज को तब लौं सबै सेवा करैं।
पुनि राज बिगड़े कौन स्वामी तनिक नहिं चित मे धरैं॥
जे बिपतिहूं मे पालि पूरब प्रीति काज सँवारहीं।
ते धन्य नर तुम सारिखे दुरलभ अहैं संसय नहीं॥

इसीसे तो हम लोग इतना यत्न करके तुम्हें मिलाना चाहते हैं कि तुम अनुग्रह करके चन्द्रगुप्त के मंत्री बनो, क्योंकि—

मूरख कातर स्वामि-भक्ति कछु काम न आवैं।
पंडित हू बिन भक्ति-काज कछु नाहिं बनावैं॥
निज स्वारथ की प्रीति करैं ते सब जिमि नारी।
बुद्धि भक्ति दोउ होय तबै सेवक सुखकारी॥

सो मैं भी इस विषय में कुछ सोचता नहीं हूं, यथाशक्ति उसीके मिलाने का यत्न करता रहता हूं। देखो, पर्वतक को चाणक्य ने मारा, यह अपवाद न होगा, क्योंकि सब जानते हैं कि चन्द्रगुप्त और

पर्वतक मेरे मित्र हैं तो मैं पर्वतक को मारकर चन्द्रगुप्त का पक्ष निर्बल कर दूगा, ऐसी शंका कोई न करेगा। सब यही कहेंगे कि राक्षस ने विषकन्या-प्रयोग करके चाणक्य के मित्र पर्वतक को मार डाला। पर एकान्त में राक्षस ने मलयकेतु के जी में यह निश्चय करा दिया है कि तेरे पिता को मैंने नही मारा, चाणक्य ने ही मारा। इससे मलयकेतु मुझसे बिगड़ रहा है। जो हो, यदि यह राक्षस लड़ाई करने को उद्यत होगा तो भी पकड़ा जाएगा। पर जो हम मलयकेतु को पकड़ेंगे तो लोग निश्चय कर लेंगे कि अवश्य चाणक्य ही ने अपने मित्र—इसके पिता को मारा और अब मित्रपुत्र अर्थात् मलयकेतु को मारना चाहता है। और भी, अनेक देशों की भाषा, पहिरावा, चाल-व्यवहार जाननेवाले अनेक वेषधारी बहुत-से दूत मैंने इसी हेतु चारो ओर भेज रखे है कि वे भेद लेते रहे कि कौन हम लोगों से शत्रुता रखता है, कौन मित्र है। और कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और सम्बन्धियों के ठीक-ठीक वृत्तान्त का अन्वेषण हो रहा है, वैसे भद्र-भटादिकों को बड़े-बड़े पद देकर चन्द्रगुप्त के पास रख दिया है और भक्ति की परीक्षा लेकर बहुत-से अप्रमादी पुरुष भी शत्रु से रक्षा करने को नियत कर दिए है। वैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण जो शुक्रनीति और चौसठो कला से ज्योतिषशास्त्र मे बड़ा प्रवीण है, उसे मैंने पहले ही योगी बनाकर नंदवध की प्रतिज्ञा के अनन्तर ही कुसुमपुर मे भेज दिया है। वह वहा नंद के मंत्रियों से मित्रता करके, विशेष करके राक्षस का अपने पर बड़ा विश्वास बढ़ाकर सब काम सिद्ध करेगा। इससे मेरा सब काम बन गया है परन्तु चंद्रगुप्त सारे राज्य का भार मेरे ही ऊपर रखकर सुख करता है। सच है, जो अपने बल बिना और अनेक दुःखो के भोगे बिना राज्य मिलता है वही सुख देता है। क्योंकि—

अपने बल सों लावहीं, यद्यपि मारि सिकार।
तदपि सुखी नहीं होत हैं, राजा सिहकुमार।।

(यम[1] का चित्र हाथ में लिए योगी का वेश धारण किए दूत आता है।)

दूत—अरे,

और देव को काम नहिं, जम को करो प्रनाम।
जो दूजन के भक्त को, प्रान हरत परिनाम।।

और

उलटे ते हूँ बनत हैं, काज किए अति हेत।
जो जम जो सबको हरत, सोई जीविका देत।।

तो इस घर में चलकर जमपट दिखाकर गावें। (घूमता है।)

शिष्य—रावलजी! ड्योढ़ी के भीतर न जाना।

दूत—अरे ब्राह्मण! यह किसका घर है?

शिष्य—हम लोगों के परम प्रसिद्ध गुरु चाणक्यजी का।

दूत—(हंसकर) अरे ब्राह्मण, तब तो यह मेरे गुरुभाई ही का घर है; मुझे भीतर जाने दे, मैं उसको धर्मोपदेश करूंगा।

शिष्य—(क्रोध से) छि. मूर्ख! क्या तू गुरुजी से भी धर्म विशेष जानता है?

दूत—अरे ब्राह्मण। क्रोध मत कर, सभी सब कुछ नहीं जानते; कुछ तेरा गुरु जानता है, कुछ मेरे-से लोग जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध से) मूर्ख! क्या तेरे कहने से गुरुजी की सर्वज्ञता उड़ जाएगी?

दूत—भला ब्राह्मण! जो तेरा गुरु सब जानता है तो बतलाए कि चंद्र किसको अच्छा नहीं लगता?

शिष्य—मूर्ख! इसको जानने से गुरु को क्या काम?

---

[1] उस काल में एक चाल के फकीर यम का चित्र दिखलाकर संसार की अनित्यता के गीत गाकर भीख मांगते थे।

दूत—यही तो कहता हू कि यह तेरा गुरु ही समझेगा कि इससे जानने से क्या होता है। तू तो सूधा मनुष्य है, तू केवल इतना ही जानता है कि कमल को चद्र प्यारा नही है। देख—

जदपि होत सुन्दर कमल, उलटो तदपि सुभाव।
जो नित पूरन चद सों, करत विरोध बनाव॥

चाणक्य—(गुनकर आप ही आप) अहा ! "मैं चन्द्रगुप्त के बैरियो को जानता हू।" यह कोई गूढ वचन से कहता है।

शिष्य—चल मूर्ख ! क्या बेठिकाने की बकवाद कर रहा है।

दूत—अरे ब्राह्मण ! यह सब ठिकाने की बाते होगी।

शिष्य—कैसे होगी ?

दूत—जो कोई सुननेवाला और समझनेवाला होय।

चाणक्य—रावलजी ! बेखटके चले आइए, यहा आपको सुनने और समझनेवाले मिलेंगे।

दूत—आया। (आगे बढकर) जय हो महाराज की।

चाणक्य—(देखकर आप ही आप) कामो की भीड से यह नही निश्चय होता कि निपुणक को किस बात के जानने के लिए भेजा था। अरे जाना, इसे लोगो के जी का भेद लेने को भेजा था। (प्रकाश) आओ, आओ, कहो, अच्छे हो ? बैठो।

दूत—जो आज्ञा। (भूमि मे बैठता है।)

चाणक्य—कहो, जिस काम को गए थे उसका क्या किया ? चद्रगुप्त को लोग चाहते हैं कि नही ?

दूत—महाराज ! आपने पहले से ऐसा प्रबन्ध किया है कि कोई चद्रगुप्त से विराग न करे, इस हेतु सारी प्रजा महाराज चन्द्रगुप्त मे अनुरक्त है, पर राक्षस मत्री के दृढ मित्र तीन ऐसे हैं जो चन्द्रगुप्त की वृद्धि नही सह सकते।

चाणक्य—(क्रोध से) अरे ! कह, कौन अपना जीवन नहीं सह सकते, उसके नाम तू जानता है ?

दूत—जो नाम न जानता तो आपके सामने क्योंकर निवेदन करता ?

चाणक्य—मैं सुना चाहता हूं कि उनके क्या नाम हैं ?

दूत—महाराज सुनिए। पहले तो शत्रु का पक्षपात करनेवाला क्षपणक है।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) हमारे शत्रुओं का पक्षपाती क्षपणक है ? (प्रकाश) उसका नाम क्या है ?

दूत—जीवसिद्धि नाम है।

चाणक्य—तूने कैसे जाना कि क्षपणक मेरे शत्रुओं का पक्षपाती है ?

दूत—क्योंकि उसने राक्षस मंत्री के कहने से देव पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग किया।

चाणक्य—(आप ही आप) जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तदूत है। (प्रकाश) हां, और कौन है ?

दूत—महाराज! दूसरा राक्षस मंत्री का प्यारा सखा शकटदास कायस्थ है।

चाणक्य—(हंसकर आप ही आप) कायस्थ कोई बड़ी बात नहीं है तो भी क्षुद्र शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसी हेतु तो मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर उसके पास रखा है। (प्रकाश) हां, तीसरा कौन है ?

दूत—(हंसकर) तीसरा तो राक्षस मंत्री का मानो हृदय ही पुष्पपुरवासी चन्दनदास नामक वह बड़ा जौहरी है जिसके घर में मंत्री राक्षस अपना कुटुम्ब छोड़ गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) अरे ! यह उसका बड़ा अंतरंग मित्र होगा; क्योंकि पूरे विश्वास बिना राक्षस अपना कुटुम्ब यों न छोड़ जाता।

(प्रकाश) भला, तूने यह कैसे जाना कि राक्षस मन्त्री वहां अपना कुटुम्ब छोड़ गया।

दूत—महाराज ! इस 'मोहर' की अगूठी से आपको विश्वास होगा ! (अगूठी देता है)

चाणक्य—(अगूठी लेकर और उसमे राक्षस का नाम बाचकर प्रसन्न होकर आप ही आप) अहा ! मैं समझता हू कि राक्षस ही मेरे हाथ लगा। (प्रकाश) भला, तुमने यह अगूठी कैसे पाई ? मुझसे सब वृत्तांत तो कहो।

दूत—सुनिए, जब मुझे आपने नगर के लोगों का भेद लेने भेजा तब मैंने यह सोचा कि बिना भेस बदले मैं दूसरे के घर मे न घुसने पाऊगा, इससे मैं जोगी का भेस करके जमराज का चित्र हाथ मे लिए फिरता-फिरता चन्दनदास जौहरी के घर मे चला गया और वहा चित्र फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्य—हा, तब !

दूत—तब महाराज ! कौतुक देखने को एक पाच बरस का बडा सुन्दर बालक एक परदे की आड़ से बाहर निकला। उस समय परदे के भीतर स्त्रियो मे बडा कलकल हुआ कि 'लडका कहा गया।' इतने मे एक स्त्री ने द्वार के बाहर मुख निकालकर देखा और लड़के को झट पकड ले गई, पर पुरुष की उगली से स्त्री की उंगली पतली होती है, इससे द्वार ही पर यह अगूठी गिर पडी, और मैं उसपर राक्षस मन्त्री का नाम देखकर आपके पास उठा लाया।

चाणक्य—वाह-वाह! क्यो न हो। अच्छा जाओ, मैंने सब सुन लिया। तुम्हे इसका फल शीघ्र मिलेगा।

दूत—जो आज्ञा। (जाता है।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव!

शिष्य—(आकर) आज्ञा, गुरुजी।

चाणक्य—बेटा! कलम, दवात, कागज तो लाओ।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर ले आता है।) गुरुजी! ले आया

चाणक्य—(लेकर आप ही आप) क्या लिखूं, इसी पत्र से राक्षस
जीतना है।

(प्रतिहारी आती है।)

प्रतिहारी—जय हो, महाराज की जय हो!

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह-वाह! कैसा सगुन हुआ कि का
रम्भ ही में जय शब्द सुनाई पड़ा। (प्रकाश) कहो शोणोत्त
क्यों आई हो?

प्रतिहारी—महाराज! राजा चन्द्रगुप्त ने प्रणाम कहा है और पूछा
कि मैं पर्वतेश्वर की क्रिया किया चाहता हूं। इसमें आपकी आज
हो तो उनके पहिरे आभरणों को पंडित ब्राह्मणों को दूं।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) वाह चन्द्रगुप्त वाह, क्यों न हो; मे
जी की बात सोचकर संदेशा कहला भेजा है। (प्रकाश) शोणो
त्तरा! चन्द्रगुप्त से कहो कि "वाह! बेटा वाह! क्यों न हो, बहु
अच्छा विचार किया। तुम व्यवहार में बड़े ही चतुर हो; इससे ज
सोचा है सो करो, पर पर्वतेश्वर के पहिरे हुए आभरण गुणवा
ब्राह्मणों को देने चाहिए, इससे ब्राह्मण मैं चुनके भेजूंगा।"

प्रतिहारी—जो आज्ञा महाराज। (जाती है।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से कहो कि जाक
चन्द्रगुप्त से आभरण लेकर मुझसे मिलें।

शिष्य—जो आज्ञा। (जाता है।)

चाणक्य—(आप ही आप) पीछे तो यह लिखें पर पहले क्या लिखें;
(सोचकर) अहा! दूतों के मुख से ज्ञात हुआ कि उस मलेच्छ-

राज सेना में से प्रधान पाच राजा परम भक्ति से राक्षस की सेवा करते हैं।

प्रथम चित्र वर्म्मा कुलूत को राजा भारी।
मलय देशपति सिंहनाद दूजो बलधारी॥
तीजो पुसकरनयन अहै कश्मीर देश को।
सिंधुसेन पुनि सिंधु नृपति अति उग्र भेव को॥
मेघाक्ष पाचवो प्रबल अति; बहु हयजुत पारस नृपति।
अब चित्रगुप्त इन नाम को मेटहिं हम जब लिखहिं इति॥[1]

(कुछ सोचकर) अथवा न लिखू, अभी सब बात योंही रहे।

(प्रकाश) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—बेटा ! वैदिक लोग कितना भी अच्छा लिखें तो भी उनके अक्षर अच्छे नही होते, इससे सिद्धार्थक से कहो (कान मे कहकर) कि वह शकटदास के पास जाकर यह सब बात यो लिखवाकर और "किसीका लिखा कुछ कोई आप ही बाचें" यह सरनामे पर नाम बिना लिखवाकर हमारे पास आवे और शकटदास से यह न कहे कि चाणक्य ने लिखवाया है।

शिष्य—जो आज्ञा। (जाता है।)

चाणक्य—(आप ही आप) अहा ! मलयकेतु को तो जीत लिया।

(चिट्ठी लेकर सिद्धार्थक आता है।)

सिद्धार्थक—जय हो महाराज की, जय हो महाराज ! यह शकटदास के हाथ का लेख है।

---

[1] अर्थात् अब जब हम इनका नाम लिखते हैं तो निश्चय ये सब मरेंगे। इससे अब चित्रगुप्त अपने खाते से इनका नाम काट दें, न ये जीते रहेंगे न चित्रगुप्त को लेखा रखना पड़ेगा।

चाणक्य—(लेकर देखता है।) वाह, कैसे सुन्दर अक्षर हैं! (पढ़कर) बेटा, इसपर यह मोहर कर दो।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा। (मोहर करके) महाराज, इसपर मोहर हो गई; अब और कहिए क्या आज्ञा है?

चाणक्य—बेटाजी! हम तुम्हें एक अपने निज के काम में भेजना चाहते हैं।

सिद्धार्थक—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है। कहिए, यह दास आपके कौन काम आ सकता है?

चाणक्य—सुनो, पहले जहां सूली दी जाती है वहां जाकर फांसी देनेवालों को दाहिनी आंख दबाकर समझा देना[1] और जब वे तेरी बात समझकर डर से इधर-उधर भाग जाएं तब तुम शकटदास को लेकर राक्षस मन्त्री के पास चले जाना। वह अपने मित्र के प्राण बचाने से तुमपर बड़ा प्रसन्न होगा और तुम्हें पारितोषिक देगा, तुम उसको लेकर कुछ दिनों तक राक्षस ही के पास रहना और जब और भी लोग पहुंच जाएं तब यह काम करना।

(कान में समाचार कहता है।)

सिद्धार्थक—जो आज्ञा महाराज!

चाणक्य—शार्ङ्गरव! शार्ङ्गरव!

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी!

चाणक्य—कालपाशिक और दंडपाशिक से यह कह दो कि चन्द्रगुप्त आज्ञा करता है कि जीवसिद्धि क्षपणक ने राक्षस के कहने से विषकन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला, यही दोष प्रसिद्ध करके अपमानपूर्वक उसको नगर से निकाल दें।

---

[1] चांडालों को पहले से समझा दिया था कि जो आदमी दाहिनी आंख दबावे उसको हमारा आदमी समझकर तुम लोग हट जाना।

शिष्य—जो आज्ञा। (घूमता है।)

चाणक्य—बेटा! ठहर, सुन, और वह जो शकटदास कायस्थ है वह राक्षस के कहने से नित्य हम लोगों की बुराई करता है। यही दोष प्रगट करके उसको सूली दे दे और उसके कुटुम्ब को कारागार में भेज दें।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज। (जाता है।)

चाणक्य—(चिन्ता करके आप ही आप) हा! क्या किसी भांति यह राक्षस पकड़ा जाएगा?

शिष्य—महाराज! लिया।

चाणक्य—(हर्ष से आप ही आप) अहा! क्या राक्षस को ले लिया? (प्रकाश) कहो, क्या पाया?

सिद्धार्थक—महाराज! आपने जो संदेशा कहा, वह मैंने भली भांति समझ लिया, अब काम पूरा करने जाता हूं।

चाणक्य—(मोहर और पत्र देकर) सिद्धार्थक! जा तेरा काम सिद्ध हो।

सिद्धार्थक—जो आज्ञा। (प्रणाम करके जाता है।)

शिष्य—(आकर) गुरुजी, कालपाशिक, दंडपाशिक, आपसे निवेदन करते हैं कि महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा पूर्ण करने जाते हैं।

चाणक्य—अच्छा, बेटा! मैं चन्दनदास जौहरी को देखा चाहता हूं।

शिष्य—जो आज्ञा! (बाहर जाकर चन्दनदास को लेकर आता है।) इधर आइए सेठजी!

चंदनदास—(आप ही आप) यह चाणक्य ऐसा निर्दय है कि यह जो एकाएक किसी को बुलावे तो लोग बिना अपराध भी इससे डरते हैं, फिर कहां मैं इसका नित्य का अपराधी, इसीसे मैंने धन-सेनादिक तीन महाजनों से कह दिया है कि दुष्ट चाणक्य जो मेरा घर

लूट ले तो आश्चर्य नहीं, इसमे स्वामी राक्षस का कुटुंब और कही ले जाओ, मेरी जो गति होनी है वह हो।

शिष्य—इधर आइए साहजी !

चंदनदास—आया। (दोनों घूमते हैं।)

चाणक्य—(देखकर) आइए साहजी ! कहिए, अच्छे तो हैं ? बैठिए, यह आसन है।

चंदनदास—(प्रणाम करके) महाराज ! आप नही जानते कि अनुचित सत्कार अनादर से भी विशेष दुःख का कारण होता है, इससे मैं पृथ्वी पर ही बैठूंगा।

चाणक्य—वाह ! आप ऐसा न कहिए। आपको तो हम लोगों के साथ यह व्यवहार उचित ही है; इससे आप आसन पर ही बैठिए।

चंदनदास—(आप ही आप) कोई बात तो इस दुष्ट ने जानी। (प्रकाश) जो आज्ञा। (बैठता है।)

चाणक्य—कहिए साहजी ! चंदनदासजी ! आपको व्यापार में लाभ तो होता है न ?

चंदनदास—महाराज, क्यों नही, आपकी कृपा से सब बनिज-व्यापार अच्छी भांति चलता है।

चाणक्य—कहिए साहजी ! पुराने राजाओं के गुण, चन्द्रगुप्त के दोषों को देखकर, कभी लोगो को स्मरण आते हैं ?

चंदनदास—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! शरद् ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की भांति शोभित चन्द्रगुप्त को देखकर कौन नही प्रसन्न होता ?

चाणक्य—जो प्रजा ऐसी प्रसन्न है तो राजा भी प्रजा से कुछ अपना भला चाहते हैं।

चंदनदास—महाराज ! जो आज्ञा। मुझसे कौन और कितनी वस्तु

चाहते है ?

चाणक्य—सुनिए साहजी ! यह नंद का राज[1] नही है, चन्द्रगुप्त का राज्य है, धन से प्रसन्न होनेवाला तो वह लालची नंद ही था, चन्द्रगुप्त तो तुम्हारे ही भले से प्रसन्न होता है।

चंदनदास—(हर्ष से) महाराज, यह तो आपकी कृपा है।

चाणक्य—पर यह तो मुझसे पूछिए कि वह भला किस प्रकार से होगा ?

चंदनदास—कृपा करके कहिए।

चाणक्य—सौ बात की एक बात यह है कि राजा के विरुद्ध कामों को छोड़ो।

चंदनदास—महाराज ! वह कौन अभागा है जिसे आप राजविरोधी समझते है ?

चाणक्य—उसमें पहले तो तुम्ही हो।

चंदनदास—(कान पर हाथ रखकर) राम ! राम ! राम ! भला तिनके से और अग्नि से कैसा विरोध ?

चाणक्य—विरोध यही है कि तुमने राजा के शत्रु राक्षस मंत्री का कुटुंब अब तक घर में रख छोड़ा है।

चंदनदास—महाराज ! यह किसी दुष्ट ने आपसे झूठ कह दिया है।

चाणक्य—सेठजी ! डरो मत। राजा के भय से पुराने राजा के सेवक लोग अपने मित्रों के पास बिना चाहे भी कुटुंब छोड़कर भाग जाते हैं, इससे इसके छिपाने ही में दोष होगा।

चंदनदास—महाराज ! ठीक है। पहले मेरे घर पर राक्षस मंत्री का कुटुम्ब था।

---

[1] यहाँ तुच्छता प्रकट करने के लिए 'राज्य' अपभ्रंश 'राज' लिखा गया है।

चाणक्य—पहिले तो कहा कि किसीने झूठ कहा है। अब कहते हो 'था'। यह गबड़े की बात कैसी ?

चंदनदास—महाराज ! इतना ही मुझसे बातों में फेर पड़ गया।

चाणक्य—सुनो, चन्द्रगुप्त के राज्य में छल का विचार नहीं होता, इससे राक्षस का कुटुंब दो, तो तुम सच्चे हो जाओगे।

चंदनदास—महाराज ! मैं कहता हूं न, पहले राक्षस का कुटुंब था।

चाणक्य—तो अब कहां गया ?

चंदनदास—न जाने कहां गया है।

चाणक्य—(हंसकर) सुनो सेठजी ! तुम क्या नहीं जानते कि सांप तो सिर पर बूटी पहाड़ पर। और जैसा चाणक्य ने नंद को··· (इतना कहकर लाज से चुप रह जाता है।)

चंदनदास—(आप ही आप)

प्रिया दूर घन गरजहीं, अहो दुःख अति घोर।
औषधि दूर हिमाद्रि पै सिर पै सर्प कठोर॥

चाणक्य—चन्द्रगुप्त को अब राक्षस मन्त्री राज पर से उठा देगा यह आशा छोड़ो, क्योंकि देखो—

नृप नन्द जीवत नीतिबल सों, मति रही जिनकी भली।
ते 'वक्रनासादिक' सचिव नहिं, थिर सके करि अति चली॥
सो श्री सिमिटि अब आय लिपटी, चन्द्रगुप्त नरेस सों।
तेहि दूर को करि सकै ? चांदनि छुटत कहुं राकेस सों॥

और भी

"सदा दंति के कुम्भ को" इत्यादि फिर से पढ़ता है।

चंदनदास—(आप ही आप) अब तुझको सब कहना फबता है। (नेपथ्य में) हटो हटो—

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! यह क्या कोलाहल है देख तो ?

शिष्य—जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर आकर) महाराज, राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा से राजद्वेषी जीवसिद्धि क्षपणक निरादरपूर्वक नगर से निकाला जाता है।

चाणक्य—क्षपणक ! हा ! हा ! अथवा राज-विरोध का भोग भोगै। सुनो चंदनदास ! देखो, राजा अपने द्वेषियों को कैसा कड़ा दण्ड देता है। मैं तुम्हारे भले की कहता हू, सुनो, और राक्षस का कुटुंब देकर जन्म-भर राजा की कृपा से सुख भोगो।

चंदनदास—महाराज ! मेरे घर राक्षस मन्त्री का कुटुंब नहीं है।

(नेपथ्य में कलकल होता है।)

चाणक्य—शाङ्ग रव ! देख तो यह क्या कलकल होता है ?

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है।) महाराज राजा की आज्ञा से राजद्वेषी शकटदास कायस्थ को सूली देने ले जाते हैं।

चाणक्य—राजविरोध का फल भोगे। देखो सेठजी! राजा अपने विरोधियों को कैसा कड़ा दण्ड देता है, इससे राक्षस का कुटुम्ब छिपाना यह कभी न सहेगा; इसीसे उसका कुटुम्ब देकर तुमको अपना प्राण और कुटुम्ब बचाना हो तो बचाओ।

चदनदास—महाराज ! क्या आप मुझे डर दिखाते हैं ? मेरे यहां अमात्य राक्षस का कुटुम्ब हुई नहीं है, पर जो होता तो भी मैं न देता।

चाणक्य—क्या चंदनदास ! तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदनदास—हा, मैंने यही दृढ़ निश्चय किया है।

चाणक्य—(आप ही आप) वाह, चदनदास ! वाह !! क्यों न हो !!!

दूजे के हित प्राण दै, करे धर्म प्रतिपाल।
को ऐसो शिवि के बिना, दूजो है या काल॥

(प्रकाश) क्या चदनदास, तुमने यही निश्चय किया है ?

चंदनदास—हां ! हां ! मैंने यही निश्चय किया है ।

चाणक्य—(क्रोध से) दुरात्मा दुष्ट बनिया ! देख राजकोप का कैसा फल पाता है !

चंदनदास—(बांह फैलाकर) मैं प्रस्तुत हूं; आप जो चाहिए अभी दंड दीजिए ।

चाणक्य—(क्रोध से) शार्ङ्गरव ! कालपाशिक, दंडपाशिक से मेरी आज्ञा कहो कि अभी इस दुष्ट बनिये को दंड दे । नहीं, ठहरो, दुर्गपाल, विजयपाल से कहो कि इसके घर का सारा धन ले लें और इसको कुटुम्ब-समेत पकड़कर बांध रखें, तब तक मैं चन्द्रगुप्त से कहूं, वह आप ही इसके सर्वस्व और प्राणहरण की आज्ञा देगा ।

शिष्य—जो आज्ञा महाराज । सेठजी इधर आइए ।

चंदनदास—लीजिए महाराज । यह मैं चला । (उठकर चलता है, आप ही आप) अहा ! मैं धन्य हूं कि मित्र के हेतु मेरे प्राण जाते हैं, अपने हेतु तो सभी मरते हैं ।

(दोनों बाहर जाते हैं ।)

चाणक्य—(हर्ष से) अब ले लिया है राक्षस को, क्योंकि—

जिमि इन तृन सम प्रान तजि, कियो मित्र को त्रान ।
तिमि सोहू निज मित्र अरु, कुल रखि है दै प्रान ॥

(नेपथ्य में कलकल)

चाणक्य—शार्ङ्गरव !

शिष्य—(आकर) आज्ञा गुरुजी !

चाणक्य—देख तो यह कैसी भीड़ है ।

शिष्य—(बाहर जाकर फिर आश्चर्य से आकर) महाराज ! शकटदास को सूली पर से उतारकर सिद्धार्थक लेकर भाग गया !

चाणक्य—(आप ही आप) वाह सिद्धार्थक ! काम का आरम्भ तो किया ।

(प्रकाश) हैं! क्या ले गया? (क्रोध से) बेटा! दौड़कर भागुरायण से कहो कि उसको पकड़े।

शिष्य—(बाहर जाकर आता है विषाद से) गुरुजी! भागुरायण तो पहले ही से कहीं भाग गया है।

चाणक्य—(आप ही आप) निज काज साधने के लिए जाए (क्रोध से प्रकाश) भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुराज, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा से कहो कि दुष्ट भागुरायण को पकड़ें।

शिष्य—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर विषाद से) महाराज, बड़े दुःख की बात है कि सब बेड़े का बेड़ा हलचल हो रहा है। भद्रभट इत्यादि तो सब पिछली ही रात भाग गए।

चाणक्य—(आप ही आप) सब काम सिद्ध करें। (प्रकाश) बेटा, सोच मत करो।

जे बात कछु जिय धारि भागे भले सुख सो भागहीं।
जे रहे तेहू जाहिं, तिनको सोच मोहि जिय कछु नहीं॥
सत सैन हूँ सो अधिक साधिनि काज, को जेहि जग कहै।
सो नन्दकुल की खननहारी, बुद्धि नित मो मैं रहै॥

(उठकर और आकाश की ओर देखकर) अभी भद्रभटादिकों को पकड़ता हू। (आप ही आप) राक्षस! अब मुझसे भाग के कहा जाएगा, देख—

एकाकी मदगलित गज, जिमि नर लावहि बांधि।
चन्द्रगुप्त के राज मे, तिमि तोहि धरि हैं साधि॥

(सब जाते हैं—यवनिका गिरती है।)

नारी का तेज

[बलदेव उपाध्याय]

मेरा नाम अपाला है। मैं महर्षि अत्रि की पुत्री हूं। मेरे माता-पिता की यही अभिलाषा थी कि उनके सूने घर को संतान का जन्म सनाथ करे। घर-भर में विषाद की एक गहरी रेखा छाई रहती थी। मेरा जन्म होते ही उस आश्रम में प्रसन्नता की सरिता वहने लगी, हर्ष का दीपक जल उठा, जिससे कोना-कोना प्रकाश से उद्भासित हो गया। मेरा शैशव ऋषि-वालकों के संग में वीता। मेरे वाल्यावस्था में प्रवेश करते ही पितृदेव के चित्त में चिन्ता ने घर किया, जब उन्होंने मेरे सुन्दर शरीर पर श्वित्र (श्वेत कुष्ठ) के छोटे-छोटे छींटे देखे। हाय! रमणीय रूप को इन श्वित्र के उजले चिह्नों ने सदा के लिए कलंकित कर डाला। पिताजी ने अपनी शक्ति-भर इन्हें दूर करने का अश्रांत परिश्रम किया तथा निपुण वैद्यों के अचूक अनुलेपनों का लेप लगाया, परन्तु फल एकदम उलटा हुआ। औषध के प्रयोगों के साथ-साथ विपरीत अनुपात से मेरी व्याधि वढने लगी, छोटे-छोटे छींटे वड़े धब्बों के समान दीख पड़ने लगे। अततोगत्वा मेरे पिता ने औषध का प्रयोग विलकुल छोड दिया।

मेरे वाह्य शरीर को निर्दोष वनाने में असमर्थ होने पर पितृदेव ने मेरी शिक्षा-दीक्षा की ओर दृष्टि फेरी। लगे वे प्रेम से पढ़ाने। आश्रम का पवित्र वायुमण्डल, ऋषि-वालकों का निश्छल सहवास, पिता की अलौकिक अध्यापन-निपुणता—सबने मिलकर मेरे अध्ययन में पर्याप्त

सहायता दी। विद्या-ग्रहण मेरे जीवन का एकमात्र व्रत बन गया। धीरे-धीरे मैंने समग्र वेद वेदांगों का प्रगाढ़ अध्ययन किया। मेरे मुख से देववाणी की धारा उसी प्रकार विशुद्ध रूप से निकलती जिस प्रकार सप्तसिंधु मंडल की पवित्रतम नदी सरस्वती का विमल प्रवाह। सुकुमारी बालिका के कोकिल-विनिंदित कण्ठ से जब वैदिक मंत्रों की ध्वनि निकलती, तब उस रम्य तपोवन में कोकिल की कूक कर्कश लगती, मयूरी की ललित केका भेकी[1] के स्वर के समान वैमनस्य उत्पन्न करती। मेरी शास्त्रचिंता को सुनकर मुनिजन मेरे गाढ़ वैदुष्य का परिचय पाकर आश्चर्य से विस्मित हो उठते।

धीरे धीरे उस आश्रम में वसंत के मंगलमय प्रभात का उदय हुआ। हरी भरी लतिकाएं पुष्पभार से लदी आनन्द में झूमने लगीं और सहकार का आश्रय लेकर अपने को सनाथ तथा अपने जीवन को कृतकृत्य बनाने लगीं। ठीक उसी समय मेरे जीवन में भी यौवन का उदय हुआ। बाल्यकाल की चपलता मिट चली और उसके स्थान पर गम्भीरता ने अपना आसन जमाया। पिता ने मेरे इस शारीरिक परिवर्तन को देखा और वे मेरे लिए एक उपयुक्त गुणी पात्र की खोज में लग गए। अनुरूप वर के मिलने में देर न लगी। उचित अवसर पर मेरे विवाह की तैयारियां होने लगीं।

आश्रम का एक सहकार-कुंज (आम का कुंज) वैवाहिक विधि के अनुष्ठान के लिए चुन लिया गया। वेदी बनाई गई। ऋत्विजों ने विधिवत् जव तिल का हवन किया। हविर्गंध से आश्रम का वायुमण्डल एक विचित्र पवित्रता का अनुभव करने लगा। उसी कुंज में मैंने पहले-पहल अपने पतिदेव को देखा—गठीला बदन, उन्नत ललाट, माथे पर त्रिपुंड की भव्य रेखाएं, विनय की साक्षात् मूर्ति, विद्या के अभि-

---

[1] मेढक [भेक (पु०), भेकी (स्त्री)]

रम्य आगार¹। मेरी तथा उनकी आँखें चार होते ही मैंने लज्जामिश्रित आदर का अनुभव किया। लज्जा के मारे मेरी आँखें आपसे-आप नीचे हो गईं, परन्तु स्त्रीत्व की मर्यादा बनाए रखने के लिए मेरा ललाट अब भी ऊंचा बना रहा। उनकी लजीली आँखों में थी यौवन-सुलभ कौतुक भाव से मिश्रित गाम्भीर्य-मुद्रा। उपस्थित ऋषि-मण्डली के सामने पूज्यपाद पितृदेव ने अग्नि को साक्षी देकर मेरा तथा उनका पाणिग्रहण करा दिया। मुझे बिलकुल याद है कि अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय उतावली के कारण उनका उत्तरीय वस्त्र थोड़ा-सा नीचे खिसक गया था तथा मेरे 'धम्मिल' (केशपाश) में गुंथी हुई जुही की माला शिथिल-बंधन होकर धरातल-शायिनी हुई थी।

मेरे लिए पतिगृह में भी किसी प्रकार का नियंत्रण न था। पितृगृह के समान मुझे यहां भी स्वातन्त्र्य की शांति विराजती मिली। वृद्ध सास तथा ससुर की सेवा में मेरे जीवन की धारा कृतार्थता के किनारे का आश्रय लेकर चारु रूप से बहने लगी। परन्तु गुलाब के कांटों के समान इस सुखद स्वच्छन्द जीवन के भीतर एक वस्तु मेरे हृदय में कसकने लगी। वह थी मेरे शरीर पर श्वित्र के छींटों की ज्वलन्त सत्ता! प्रिय कृशाश्व मुझे नितान्त कोमल भाव से प्रेम करते थे, परंतु धीरे-धीरे इन श्वित्र के सफेद चिह्नों ने उनके हृदय में मेरे प्रति काना घव्बा पैदा करने का काम किया। अब वे नितांत उदासीनता की मूर्ति बने वैराग्य में मग्न दीख पड़ते। आश्रम की सजीवता नष्ट हो चली, निर्जीवता का काला परदा सर्वत्र पड़ा रहता, बाहर आश्रम के वृक्षों पर और भीतर कृशाश्व के हृदय पर। मैंने बहुत दिनों तक इस उपेक्षा-भाव को विष के घूंट की भांति पी लिया, परन्तु सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। जब यह तिरस्कार उस सूक्ष्म रेखा को पार कर

---

1. सुन्दर आवासस्थान (घर)

गया, जो मित्रता तथा उदासीनता के भावो को अलग किया करती है, तब मुझसे न रहा गया। मेरे भीतर जीवित स्त्रीत्व की मर्यादा इस व्यापार के कारण क्षुब्ध हो उठी। मेरे अतस्तल मे छिपा भारतीय ललना का नारीत्व, अपना गौरव तथा महत्त्व प्रकट करने के लिए, पैर से कुचली गई फूत्कार करनेवाली नागिन के समान, अपने दुर्धर्ष रूप को दिखलाने के लिए व्यग्र हो उठा। उस उग्र रूप को देख एक बार कृशाश्व त्रास से काप उठे।

"भगवान, आपके इस उपेक्षा-भाव को कब तक मैं अपनी छाती पर ढोती फिरूगी ?" मैंने एक दिन आवेश मे आकर पूछा।

"मेरा उपेक्षा-भाव !" चौककर कृशाश्व ने कहा।

"हा, प्रेम की मस्ती मे मैने अभी तक इस गूढ उदासीनता के भाव को नही समझा था, प्रेम के नेत्रो ने सब वस्तुओ के ऊपर एक मोहक सरसता ही देखी थी, परन्तु शनै-शनै स्नेह की परिणति होने पर तथा बाह्य आडम्बर के स्वत न्यून होने पर मुझे आपके चरित्र मे उपेक्षा की काली रेखा दीख रही है। क्या इस परिवर्तन का रहस्य मेरे त्वग्दोष[1] मे अन्तर्हित है !" मैंने पूछा।

स्वीकृति की सूचना देते हुए कृशाश्व ने दु ख-भरे शब्दो मे कहना प्रारम्भ किया, 'मेरे अन्तस्तल मे प्रेम तथा वासना का घोर द्वन्द्व छिडा हुआ है। प्रेम कहता है कि अपने जीवन को प्रेमवेदी पर समर्पण करनेवाली ब्रह्मवादिनी अपाला दिव्य नारी है, परन्तु रूप की वासना कहती है कि त्वग्दोष से इसका शरीर इतना लाछित हो गया है कि नेत्रो में रूप से वैराग्य उत्पन्न करने का यह प्रधान साधन बन गया है। उसमें न तो है रूप की माधुरी, न लावण्य की चकाचौध। दूसरा, शरीर है

---

[1] त्वचा का दोष—चर्म दोष

कुरूपता का महान आगार, सौंदर्य विराट विभ्राट। अब तक मैं वासना की बात अनसुनी कर प्रेम के कथन को सुनता आया था, परन्तु इस द्वन्द्वयुद्ध से मेरा हृदय इतना विदीर्ण हो रहा है कि कोरे कपड़े से ढके हुए घाव के समान इस कुरूपता को मैं अधिक देर तक छिपा नहीं सकता।"

कृशाश्व के इन अन्यायपूर्ण वचनों को सुनकर मेरे हृदय में आग-सी लग गई। शरविद्ध दुर्दान्त सिंहनी के गर्जन के समान मेरे मुख से क्रुद्ध शब्दों का कर्कश प्रवाह आपसे-आप प्रवाहित होने लगा।—"पुरुष के हाथों स्त्री-जाति की इतनी भर्त्सना! प्रेम की वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाली नारी की इतनी धर्षणा! कामना से कलुषित पुरुष द्वारा इस प्रकार नारी के हृदय-कुसुम का कुचला जाना! अन्याय, घोर अन्याय! हे भगवान, स्त्री जाति के भावप्रवण, सात्त्विक भाव से वासित विमल हृदय को पुरुष जाति कब समझेगी? कब आदर करना सीखेगी? नारी-जीवन है स्वार्थ-त्याग की पराकाष्ठा का उज्ज्वल उदाहरण! स्त्री का हृदय है कोमल करुणा तथा विशुद्ध मैत्री की पारमिता का भव्य भंडार! चिन्ता तथा विषाद की, दुःख तथा अवहेलना की विपुल राशि को अपनी छाती पर ढोती हुई स्त्री-जाति अपने क्षुद्र स्वार्थ की सिद्धि के लिए कभी अग्रसर नहीं होती। परन्तु पुरुषों की करतूत किन शब्दों में कही जाए? वे रूप के लोभी, बाह्य आडम्बर के प्रेमी, क्षणभंगुर चकाचौंध के अभिलाषी बनकर स्त्री के कोमल हृदय को ठुकरा देते हैं। आत्मश्लाघा मैं नहीं करती, परन्तु वेद-वेदांग का मैंने गाढा अध्ययन किया है, गुरुकृपा से सरस काव्य की माधुरी चखने का मुझे अवसर मिला। अपाला जैसा उन्नत मस्तिष्क तथा सरस हृदय का मणि-कांचन योग नितान्त विरल है। परन्तु भाग्य का उपहास! केवल एक गुण के न रहने से मेरी ऐसी दुर्दशा हो रही है! चंद्रमा की विपुल गुणावली के बीच कलंक की कालिमा डूब जाती है, परन्तु अपाला की विशाल

गुण-राशि के बीच श्वित्र के सफेद धब्बे भी नही डूब पाते ।" इतना कहते-कहते मेरे क्रोधरक्त नेत्रो से लाल चिनगारिया निकलने लगी ।

प्रतारित नारी के ये क्षोभ-भरे शब्द सुनकर कृशाश्व एक बार ही स्तब्ध हो उठे । अपने मूक सकेतो से ही उन्होने अपने हृदय के अस्वीकार को प्रकट किया । मै विचलित हो उठी । मैंने इस आश्रम का परित्याग कर दिया । अपने पिता के तपोवन मे आने के अतिरिक्त मेरे पास दूसरा कोई उपाय न रहा । सबल पुरुष के सामने अबला ने अपनी पराजय स्वीकार की ।

अत्रि के आश्रम मे आज प्रभात का समय सुहावना नही प्रतीत होता । उषा प्राची-क्षितिज पर आई, उसने प्रतारित रमणी के क्रोध-भरे नेत्रो की आभा के समान अपने रश्मिजाल को सर्वत्र बिखेर दिया, परन्तु फिर भी आश्रम की मलिनता दूर न हुई । मुझ परित्यक्ता को देखकर मेरे माता-पिता के विषाद-भरे हृदय की सहानुभूति से आश्रम के सजीव तथा निर्जीव सब पदार्थों मे एक विचित्र उदासी छाई हुई थी । भगवान सविता की किरणें झाकने लगी । परन्तु मानसिक आलस्य के साथ-साथ शारीरिक अलसता तनिक भी दूर न हुई ।

मेरा अजीब हाल था । मुझमे न तो विषाद की छाया थी और न आलस्य की रेखा । पैर-तले रौदी गई सापनी जिस प्रकार अपनी फणा दिखलाती है, ठीक उसी प्रकार परित्याग के क्षोभ से मैं नारी के सच्चे रूप को दिखलाने मे तुल गई । त्वग्दोष के निवारण के लिए भौतिक उपायो को अकिंचित्कर जानकर मैंने आध्यात्मिक उपायो की उपयोगिता की जाच करने का निश्चय किया ।

शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलताओं के दूर करने का, कलुषित प्रवृत्तियो को जला डालने का, सबसे प्रबल साधन है तपस्या । तपस्या की आग मे कितने ही क्षुद्र मानव-भाव क्षण-भर मे जल-भुनकर राख बन

जाते हैं। तपाए गए कांचन की भांति तपस्या की अग्नि में तप्त मानव-हृदय खरा निकलता है, द्विगुणित चमक से चमक उठता है। मैंने भी इस उपाय का आश्रय लिया। वृत्रहंता मघवा[1] की उपासना में मैंने अपना समय बिताना आरम्भ किया। प्रातःकाल होते ही मैं समिधा से दहकते अग्निकुंड में होम करती और अनन्तर इन्द्र की पूजा तथा जप में संलग्न हो जाती। कुशासन पर आसन जमाई हुई मेरी अभ्यर्थना उषा की सुनहली किरणें करती। प्रभात का मन्द समीर मेरे शरीर में नवीन उत्साह, नई शक्ति का संचार करता। मध्याह्न का प्रचंड उष्णांशु[2] मेरे पंचाग्नि-साधन में पंचम अग्नि का काम करता। संध्या की लालिमा मेरे ललाट के उन्नत फलक पर लावण्य के साथ ललित केलियों का विस्तार करती। रजनी के अंधकार की कालिमा मुझे चिरकाल तक कालिमा के तरगित समुद्र में डुबाए रखती। अन्ततः प्राची के ललाट पर तिलक के समान विद्योतमान[3] सुधाकर की किरणें मेरे शरीर पर अमृतसिंचन का काम करती। दिन के बाद रातें बीतती और रातों के बाद दिन निकल जाते। देखते-देखते अनेक वर्ष आए और चले गए। परन्तु अभी तक भगवान वज्रपाणि के साक्षात्कार की अभिलाषा मेरे हृदय से नहीं गई।

मैं जानती थी कि इन्द्र की प्रसन्नता का सबसे बड़ा साधन है सोमरस का दान। गो-दुग्ध से मिश्रित सोमरस के चषकों के पीने से इन्द्र के मन में जितना प्रमोद का संचार होता है उतना किसी वस्तु में नहीं। आशुगामी अश्वों तथा वेग से बहनेवाले वातों के समान सोम के घूंट इन्द्र के हृदय को ऊपर उछाल देते हैं। सोमपान की मस्ती में वज्रपाणि प्रबलतम दानवों का संहार कर अपने भक्तों का कल्याण-साधन करते है। परन्तु सोम कहां मिले? वह तो मूजवान् पर्वत पर उगनेवाली ओषधि इधर दुष्प्राप्य-सी है। विचार आया,

---

[1] वृत्रासुर को मारनेवाला इन्द्र [2] उष्ण + अंशु = तप्त किरण

[3] वि + द्योत + मान = खूब प्रकाशमान

देखू शायद देवानुग्रह से कही इधर ही प्राप्त हो जाए। सन्ध्या के समय मैंने अपनी कलशी उठाई और जल भरने के लिए सरोवर को प्रस्थान किया। जल भरकर ज्योही मैं लौटी, मेरी दृष्टि रास्ते मे उगी लता-विशेष पर पडी। ऊपर गगन-मण्डल में भगवान सोम अपनी सोलहो कलाओ से चमक रहे थे। सोम (चन्द्र) के प्रकाश में मुझे सोम (लता) को पहचानते विलम्ब न लगा। झट मैंने उसे लता को तोड लिया और उसके स्वाद की माधुरी चखने के लिए उसे अपने दातो से चवर्ण करना शुरू किया। दन्तघर्षण का घोष सुनकर इन्द्र स्वय उपस्थित हो गए। उन्होने समझा कि अभिषव-कार्य (चुआने) मे लगनेवाले शिलाखण्डो का यह शब्द है। मैंने देखते ही अपने उपास्य देव को पहचान लिया।

इन्द्र ने मुझसे पूछा, "तुमने तो सोमरस देने की प्रतिज्ञा की थी?"

"हा, परन्तु मिठास बिना जाने मैं सोम का पान कैसे कराती? इसलिए मैं उसका स्वाद ले रही हू।"

"तथास्तु,"—इन्द्र जाने लगे।

"भगवान, आप भक्तो के घर आवाहन किए जाने पर स्वय पहुच जाते हैं। आइए, मैं आपका स्वागत यही करू।" अपने दात से घर्षित सोम की बूद को लक्ष्यकर मैंने उनसे कहा, "आप धीरे-धीरे प्रवाहित होइए जिससे भगवान इन्द्र को पीने में किसी प्रकार का क्लेश न हो?"

मघवा ने सोमरस का पान किया। भगवान ने प्रसाद ग्रहण किया। भक्त की कामना वल्लरी लहलहा उठी।

'वर मागो,"—इन्द्र की प्रसन्नता वैखरी के रूप में प्रकट हुई।

"भगवान, मेरे वृद्ध पिता के खल्वाट सिर[1] पर बाल उग जाए।"

"तथास्तु। दूसरा वर?"

"मेरे पिता के ऊसर खेत फल-सम्पन्न हो जाए।"

---

[1] यह सिर जिसपर के बाल झड गए हो।

"एवमस्तु। तीसरा वर?"

"देवाधिदेव, यदि आपका इतना प्रसाद है तो दासी अपाला का त्वग्दोष आमूल विनष्ट हो जाए।"

"बहुत ठीक। मेरी उपासिका का मनोरथ-तरु अवश्य पुष्पित तथा फलित होगा।" इतना कहकर इन्द्र ने मुझे अपने हाथों से पकड़ लिया और अपने रथ के छेद से तथा युग[1] के छेद से तीन बार मेरे शरीर को खींचकर बाहर निकाला। मेरे पहले चाम से उत्पन्न हुए साही[2], दूसरे से गोह[3] और तीसरे से गिरगिट[4]। इस प्रकार मेरे शरीर के तीन आवरण छंटकर निकल गए। त्वग्दोष जड़-मूल से जाता रहा। इन्द्र की कृपा से मेरा शरीर सूर्य के समान चमकने लगा। मेरे ऊपर दृष्टि डालने वाले व्यक्ति के नेत्रों में चकाचौंध छा गया। जो देखता आश्चर्य करता। सबला नारी के तपोबल को देखकर संसार अकस्मात् स्तब्ध हो गया।

मेरे नवीन जीवन का मंगलमय प्रभात था। उषा की पीली किरणों ने आश्रम के प्रांगण में पीली चादर बिछाकर मेरा स्वागत किया। मेरे प्रियतम कृशाश्व मेरी इस कंचनकाया को देखकर कुछ हतप्रतिभ-से हो उठे। उन्हें स्वप्न में भी ध्यान न था कि मेरे शरीर में इस प्रकार परिवर्तन होगा। नारी की शक्ति का अवलोकन कर उनका हृदय आनन्द से गद्गद हो उठा। मेरा आलिंगन करते समय उनके नेत्रों से गोल-गोल आंसुओं की बूंदें मेरे कपोलों पर गिर पड़ीं। उनके करुणापूर्ण कोमल हृदय को देखकर मैं चमत्कृत हो उठी और अपने नारी-जीवन को सफल मानकर मेरा शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया।'

---

1. (रथ का) जुआ, 2. (शल्यकी—स०) जंगली जन्तु जिसके शरीर पर लंबे कांटे होते हैं, 3 छिपकली की तरह का एक पानी का जानवर, 4. (गलगति—स०) छिपकली की जाति का एक जन्तु जो दिन में दो बार रंग बदलता है।

कहानी

[प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र]

मनुष्य-समाज म कहानियो का प्रचार बहुत प्राचीनकाल से है। मानव-जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमे कई कहानिया मिलती है—शुन शेप, उर्वशी, यमयमी आदि की। ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो आदि मे भी यथास्थान कहानिया पाई जाती हैं। पुराण, महाभारत आदि तो कहानियो का भण्डार हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही 'प्राचीन कथा' है। वैदिककाल की लुप्त और विस्मृत होती हुई कथाए पुराणो मे पद्यबद्ध कर दी गई हैं। हिन्दू-वाड्मय[1] ही नही, बौद्धो का वाड्मय भी कथाओ से भरा है। जातक कथाओ मे महात्मा बुद्ध के पूर्वजीवन की कथाए हैं। उनमे ऐसी कथाए भी मिलती हैं जो आधुनिक कहानियो के साचे मे बहुत थोडे परिवर्तन से ढाली जा सकती हैं। पैशाची भाषा म गुणाढ्य की 'बड्डकहा' अनेक कहानियो का अद्भुत सग्रह थी, जो लुप्त हो गई। उसीके आधार पर लिखी हुई दो सस्कृत पुस्तकें मिलती हैं—बृहत्कथामजरी और कथासरित्सागर। इन्हीसे उस अद्भुत रचना का कुछ आभास मिल जाता है।[2] जैनियों के अपभ्रश के ग्रथो में भी बहुत-सी कथाए पाई जाती है।

---

[1] साहित्य, [2] सस्कृत मे पचतत्र और हितोपदेश दूसरे ही प्रकार की कहानिया सुनाते हैं। ईसप की जिन कहानियो की पाश्चात्य देशो मे बडी धूम है वे इन्हींके अनुकरण पर निर्मित हुई हैं।

अपभ्रंशों के बाद देशी भाषाओं में अधिकतर पद्य-रचना होती रही इसलिए उनमें जो थोड़ी-बहुत कहानियां आरम्भ में दिखाई पड़ती हैं व पद्यबद्ध ही हैं। अंग्रेजों के आगमन के अनन्तर गद्य का प्रवाह प्रबल वेग से बहने लगा। फलस्वरूप भारत की देशी भाषाओं में गद्य का विशेष उत्थान हुआ और आधुनिक ढंग की कहानियों को अवकाश मिला। यों तो कहने के लिए हिन्दी में 'रानी केतकी की कहानी' से ही कहानी का आरम्भ हो जाता है, किन्तु 'कहानी' कही जाने योग्य रचनाओं का प्रचलन वस्तुतः 'सरस्वती' और 'इंदु' नाम की पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ आरम्भ होता है।

यह तो स्पष्ट है कि छोटी कहानियों की बाढ़ जीवन की संकुलता बढ़ने से ही हुई। विज्ञान की भीषण उन्नति के साथ-साथ, नागरिक नहीं, ग्रामीण भी विशेषतया पश्चिमी देशों में और सामान्यतया पूर्व में भी, इतने प्रकार के कर्मों मे बंधता जा रहा है कि उसके लिए सांस लेने का भी अवकाश कम होता जा रहा है। इसीसे मानसिक बुभुक्षा की शान्ति के लिए साहित्य की बड़ी मात्रा ग्रहण करने में वह असमर्थ दिखाई देता है। क्योंकि वह है समय-सापेक्ष और यहां है समय की कमी। इसीलिए छोटी-छोटी कहानिया, जो बहुत थोड़े समय मे पढ़ी जा सकती हैं, बहुत प्रचलित हुईं। छोटी कहानियां अब इतनी छोटी होने लगी हैं कि दस-पन्द्रह पंक्तियों के अनुच्छेद तक मे समाप्त हो जाती हैं। 'बौना' रूप तो अलग रहे, ये नामरूप-हीन निर्गुण भी बन रही हैं। कहानियों द्वारा जीवनगत कोई मार्मिक अनुभूति या तथ्य व्यंजित होता है। ऐसे रूप के प्रचारक इसे ही सत्य और साध्य कहकर और नाम-रूप को औपाधिक बतलाकर उसे फालतू कहते हैं। एक ओर तो कहानियो के लक्ष्य नानारूपात्मक जगत् के सभी श्रेणियों और वर्गों, स्थितियों के व्यक्ति होते जा रहे हैं और दूसरी ओर नानात्व अर्थात् विशेषता का आवरण हटाया जा रहा है। ध्यान देने की बात है कि

जगत् जिस प्रकार नानारूपात्मक है उसी प्रकार नानाभावात्मक भी। भावो की अनुभूति का आश्रय है हृदय और उसके लिए आलम्बन है नानारूप। बिना विशिष्ट रूपो का सहारा लिए भाव उद्दीप्त नही हो सकते, यह केवल कहानीगत पात्रो के लिए सत्य नही है, प्रत्युत सहृदय पाठक के लिए भी सत्य है। वह भावानुभूति 'विशेष' का ही सहारा लिया करता है, 'सामान्य' उसके लिए किसी काम का नहीं। 'न्याय' के लिए सामान्य या जाति भले ही महत्त्वपूर्ण हो, काव्य तो विशेष या व्यक्ति मे ही कार्यकारिता मानेगा, उसका विभावन नाम-रूपवाले व्यक्ति से ही होगा। विशेष का ही साधारणीकरण होगा, साधारण या सामान्य का नहीं। प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी मे अभी ऐसी कहानिया बहुत थोडी दिखाई पडी हैं।

हिन्दी मे कहानियो के अब इतने रूप दिखाई देने लगे है और उनमे ऐसी विविधता लक्षित होने लगी है कि उनका वर्गीकरण पाश्चात्य ढग से न करके स्वच्छन्द रूप से ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्दजी की 'बडे भाई साहब' और चडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'शान्ति-निकेतन' कहानिया उपस्थित की जा सकती है। कहानियो मे शील-वैचित्र्य दिखाने का बहुत थोडा अवकाश रहता है। किन्तु 'बडे भाई साहब' मे लेखक ने केवल शील वैचित्र्य ही दिखलाया है। शील-निदर्शन की यह पद्धति भी रूपकात्मक (ड्रामेटिक) है, जो सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। 'हृदयेश' की कहानी काव्य-कहानी है। अब पश्चिम की देखा-देखी कहानी, उपन्यास, नाटक सभीसे काव्य का अवयव धीरे-धीरे हटता चला जा रहा है, पर हिन्दी मे कुछ लेखक ऐसे हैं जो साहित्यगत काव्य-तत्त्व की रक्षा करते आ रहे हैं। 'हृदयेश', 'प्रसाद' आदि ऐसे ही लेखक हैं।

हिन्दी मे नये ढग की कहानियो का चलन जिस समय से हुआ उस समय सामाजिक सुधार के आन्दोलन चल रहे थे। अत आरम्भ मे

अधिकतर कहानियां सामाजिक सुधारों पर लिखी गईं। शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक थोड़े दिखाई पड़े। पं० किशोरीलाल गोस्वामी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रारम्भिक और शुद्ध साहित्यिक कहानी-लेखक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। कुछ समय के अनन्तर स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'उसने कहा था' कहानी लिखकर शुद्ध साहित्यिक कहानी का बहुत ही अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। पहले कहा जा चुका है कि छोटी कहानियों का अधिक चलन उत्तरोत्तर जीवन की संकुलता के बढ़ते जाने से हुआ है। इसीसे समय-समय पर जो कहानियां लिखी जाती हैं वे अपने समय की स्थिति का संकेत अथवा प्रदर्शन करती रहती हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य की कोई और धारा चाहे लोक-जीवन से विशेष संबद्ध होकर न भी चले, किन्तु कहानी का प्रवाह उससे अधिकाधिक सपृक्त दिखाई देता है। इनका महत्त्व इतना अधिक बढ़ता जा रहा है कि मासिक पत्र ही नहीं, समाचारपत्रों तक में कहानियां प्रकाशित होने लगी हैं। किसी पत्र की ग्राहक-संख्या बढ़ाने में इन कहानियों का बहुत बड़ा भाग रहता है। नैत्यिक[1] जीवन से विशेष संलग्न रहने ही के कारण कहानिया साहित्य और जीवन के बीच में पड़नेवाले व्यवधान को बराबर दूर करती रहती हैं। कविता नई-नई भाव-भंगी दिखाने के फेर में जीवन से जितनी ही दूर होती जा रही है, कवि जितना ही दूर लोक का विहार करने लगे हैं, उतनी ही कहानी जीवन के निकट आती जा रही है और कहानी-लेखक उतना ही जीवन से सबद्ध होते जा रहे हैं।

हां, इधर काव्य-क्षेत्र की भांति कुछ व्यंजनात्मक ऐसी कहानियां भी दिखाई देने लगी हैं जिनमें पदावली की बहार तो अत्यधिक रहती है, पर कहने को कुछ नहीं होता। यह खटके की बात है। संतोष इतना ही है कि दूसरे लोक के ये जीव बहुत कम हैं; अधिकतर

---

[1] 'नित्य' शब्द का विशेषण रूप 'नैत्यिक' है; नैत्यिक=दैनिक

कहानिया लोकबद्ध जीवन ही लेकर चल रही हैं। उनमे जो उद्विग्न करनेवाली प्रवृत्ति दिखाई दे रही है वह दूसरी है। बहुत-सी कहानिया प्रेम-व्यापार को ही सब कुछ समझकर निर्मित हो रही हैं। माना कि प्रेम की व्याप्ति जीवन मे अत्यधिक है, पर वही जीवन नही है इसे भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यो तो नई कहानियो का प्रचलन हिन्दी मे ईसवी सन् के बीसवें शतक के प्रारम्भ से ही हो गया था अर्थात् 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के पश्चात् से ही, फिर भी इन कहानियो की विशेष धूम-धाम उस समय से हुई जब प्रेमचन्दजी इस क्षेत्र में आए। आरम्भ मे प्रेमचन्दजी ने दो प्रकार की कहानिया लिखी; एक तो ऐतिहासिक, दूसरी शिक्षाप्रद। तब तक प्रेमचन्दजी की कहानियों मे साम्प्रदायिकता का प्रवेश नही हुआ था। पर धीरे-धीरे उनमे इसके बीज पड़ने लगे और आगे चलकर अकुर भी निकल आए। पिछले काटे की उनकी कहानियो मे स्पष्ट लक्षित होता है कि लेखक जिस जीवन का वर्णन कर रहा है उसका या तो उसने ठीक-ठीक निरीक्षण[1] नही किया है या जान-बूझकर नकली रग चढाया है। ऐसी रगत साहित्य के लिए बाधक ही नही घातक भी हुआ करती है। केवल प्रेमचन्द ही नही, कुछ दूसरे राष्ट्रीय भावापन्न लेखक भी उसी ढाचे की कहानिया प्रस्तुत करने मे लगे हैं। यद्यपि प्रेमचन्द की कहानियों के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे उनके उपन्यासो की अपेक्षा विशेष रोचक होती हैं और यह धारणा परिमित रूप मे ठीक भी मानी जा सकती है तथापि सचाई यह कहने को विवश करती है कि साम्प्रदायिक अतिरजना उनकी कहानियो मे आ गई थी और उसके आगमन से वे विद्रूप भी अवश्य हुई। जैसा नि सग निरूपण 'सप्तसरोज', 'नवनिधि' आदि आरम्भिक कहानी-सग्रहो में दिखाई पड़ता है वैसा पिछले सग्रहो मे सर्वत्र नही।

---

[1] निरीक्षण—Observation।

हिन्दी में यों तो अनेक कहानी-लेखक हैं और उनकी अलग-अलग विशेषताएं हैं, किन्तु यहां उन सबका उल्लेख करना सम्भव नही, फिर भी दो बातें 'प्रसाद' जी की कहानियों के सम्बन्ध में कह देने की आवश्यकता है। उनकी कहानियां अपने ढंग की विशिष्ट कहानियां हैं और हिन्दी मे कहानी के स्वच्छन्द विकास का आभास देनेवाली हैं। इनकी प्रत्येक कहानी प्रकृति की अपेक्षित पीठिका पर खड़ी हुई है और प्रेम के किसी न किसी नूतन रूप की परिपूर्ण व्यंजना करनेवाली है। प्रेम के रूपों की विविधता और अन्य अंतर्वृत्तियों के साथ उसके मवलित रूप के दर्शन जिस निपुणता के साथ लेखक करा सका है वह प्रशंसनीय तो है ही, गर्व करने योग्य भी है।

संस्कृत में सब प्रकार की कथाओं के पांच भेद किए गए हैं—आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा और कथालिका। इनमें से आख्यायिका और कथा उपन्यासों के भेद हैं, अर्थात् बड़ी कथा को निरूपित करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास 'आख्यायिका' के अंतर्गत आते हैं, इनमें क्रमबद्ध घटनाएं विस्तार से आती हैं। 'कथा' में कल्पित कथा होती है, उसमें घटनाएं थोड़ी ही कथाबद्ध की जाती हैं।[1] चाहें तो ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियों के लिए आख्यायिका शब्द हिन्दी में गृहीत हो सकता है। खंडकथा छोटी कहानी के लिए आता था। पशु-पक्षियों की विलक्षण कहानियां (फेबुल) 'परिकथा' कहलाती हैं। जहां एक में एक-एक करके कई कथाएं जुड़ती चली जाती हैं वहां 'कथालिका' समझिए; जैसे कथासरित्सागर, वैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी परिकथा और कथालिका का मिश्रण हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये भेद घटना-वैचित्र्य, कथा-रूप आदि के विचार से किए गए हैं। अतः इनका साहित्यिक कहानियों में विशेष उपयोग नही हो सकता।

---

1. प्रबन्धकल्पनां स्तोकसत्यां प्राज्ञाः कथां विदु.।
परम्पराश्रया या स्यात् सा मताख्यायिका बुधैः॥

यो तो वस्तु, पात्र आदि के विचार से उपन्यास के जितने भेद किए गए हैं, कहानियो के भी उतने ही किए जाते हैं, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कहानियो में 'चरित्र' के विकास या निरूपण का वैसा अवकाश नही प्राप्त हो सकता जैसा उपन्यासो म। क्योंकि उपन्यासो मे पूर्ण जीवन लाया जाता है और कहानियों मे जीवन की केवल एक झलक रहती है, और इसी एक झलक मे घटनाओं, कार्य-व्यापारो, सवाद, परिस्थिति आदि कई बातो पर लेखक को दृष्टि जमानी पड़ती है। इसलिए 'चरित्र' के विकास का इसम अवकाश ही कहा मिलता है। फिर भी हिन्दी में एकाध कहानिया ऐसी दिखाई देती है जिनमें चरित्र के निदर्शन का, विकास का नही, अवकाश निकल आया है; जैसे प्रेमचन्द की 'बड़े भाई साहब' कहानी। कहानी मे वस्तुत कोई एक ही पात्र मुख्य होता है। कभी-कभी दो पात्र भी प्रमुख दिखाई देते हैं, पर अधिकतर कहानियो में एक ही पात्र मध्यस्थ रहता है। एक ही मुख्य पात्र पर विशेष ध्यान देने से कभी-कभी शील का स्थूल आभास-मात्र अच्छी साहित्यिक कहानिया अवश्य दिखाती है, जैसे स्वर्गीय गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी मे लहनासिह का चरित्र। कहानी म जीवन की एक झलक होती है, इसीसे उसमे किसीका जो चरित्र होता है वह जीवन का अंश-मात्र है।

जिस समय कहानी का उदय हुआ उस समय उनका उपयोग अधिकतर बच्चो को शिक्षा देना था। इसलिए आरम्भ म ऐसी कहानिया लिखी गईं जो केवल उपदेशात्मक थी। 'हितोपदेश' नाम ही बतलाता है कि उसका लक्ष्य 'उपदेश' था। इसम वाणी के अमोघ वरदान से विभूषित केवल मनुष्य ही नही बोलता, पशु पक्षी भी बोलते है। यद्यपि अब इस प्रकार की नई-नई कहानियो का निर्माण बहुत कुछ बन्द हो गया है, तथापि शिक्षा के लिए इन पुरानी कहानियो का उपयोग न बन्द हुआ और न बन्द होगा। दूसरी कहानिया पहेली-

बुझौवल के ढंग की बनीं; जैसे बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी। ये कहानियां आश्चर्यचकित करने के लिए लिखी गई हैं और इनमें मस्तिष्क का विलक्षण अभ्यास दिखाया गया है। इन्हें क्रमशः ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों के ढंग का माना जा सकता है। आधुनिक कहानियों में उपन्यासों से विलक्षणता यह दिखाई देती है कि वे अपने छोटे रूपों में प्रतीकों से भी काम लेने लगी हैं। कुछ लोग इसीसे प्रतीकात्मक छोटे-छोटे गद्य-खण्डों को कहानियां कहते हैं। पर कहानियों और गद्य-खण्डों में अन्तर है। कहानियों में घटनाचक्र मुख्य होता है और कुतूहल की मात्रा अत्यधिक होती है। किन्तु गद्यबद्ध काव्य-खंडों के प्रतीक-विधान का लक्ष्य घटना-वैचित्र्य का कुतूहल नहीं होता।

अन्त में उन छोटे कथा-खंडों पर भी विचार कर लेना चाहिए जो नाम-रूपविहीन होते हैं। इस नामरूपात्मक जगत् में अलौकिक सृष्टि विलक्षण है, क्योंकि संकेतग्रह में बाधा उपस्थित होती है। संकेतग्रह का कार्यकारित्व भाव-विशेष या व्यक्ति में ही होता है, सामान्य जाति में नहीं। फिर भी इस प्रकार की कहानियों के प्रचलित होने का कारण है—कुतूहल-शांति का अल्पकाल और अल्पायास-साध्य प्रयत्न। इनमें कहानी का मसाला, उसका निचोड़ रखा रहता है। इनमें मन रमता तो नहीं, बहल अवश्य जाता है।

यों तो सभी प्रदेशों के साहित्य की अंतरात्मा एक ही हुआ करती है, पर संस्कृति-भेद से व्यंजना में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य पड़ता है। आधुनिक ढंग की हिन्दी कहानियां पहले बंगला का प्रभाव लेकर चलीं। उनमें सरलता की मात्रा अधिक होती थी। आगे चलकर वे सीधे अंग्रेजी से प्रभावित होने लगीं। फलतः घटना-वैचित्र्य ही अधिकतर उनका लक्ष्य बना। अब रूसी कहानियों का विशेष प्रभाव हिन्दी के कुछ कहानी-लेखकों पर लक्षित होता है, जिससे सांप्रदायिकता

बढ़ती जा रही है। अपने ढंग से कहानी का विकास होने में इससे बाधा तो अवश्य उपस्थित होती है, पर विविधता बढ़ रही है; इसे तो मानना ही पड़ेगा।

कहानी की सीमा छोटी होती है इसलिए उसमें तत्त्वों का विधान भी उसकी छोटी सीमा के अनुकूल ही किया जा सकता है। उपन्यासों में जितने तत्त्व होते हैं वे कहानी में ज्यों के त्यों नहीं पाए जाते। उपन्यास के विस्तीर्ण क्षेत्र में उन तत्त्वों के समावेश का सुभीता रहता है, पर कहानियों में वैसा नहीं। यह कहना ठीक नहीं कि उपन्यास लिखने की अपेक्षा कहानी लिखना विशेष कठिन है। उपन्यास में मनोरंजन की जैसी धारा होती है वह कहानी में संभव नहीं। कहानी में गृहीत खंड-जीवन के चुनाव में ही विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि मार्मिक खंड-जीवन न चुना जाएगा तो कहानी आकर्षक नहीं हो सकती। उपन्यास और कहानी में वही अन्तर समझना चाहिए जो महाकाव्य और खंडकाव्य में होता है। कहानी की सामग्री यदि सावधानी के साथ एकत्र की जाए तो थोड़े परिश्रम से ही विशेष रंजन हो सकता है।

कहानी में तत्त्वों के समावेश में सावधान रहने की आवश्यकता है। जैसे कथावस्तु को लीजिए। उपन्यास में कथावस्तु कई शाखाओं में प्रस्फुटित की जा सकती है, किन्तु कहानियों में शाखा-प्रशाखा की परम्परा नहीं रखी जा सकती। उसमें जो कथा ली जाती है वह एक ही रहती है; उसमें विशेष प्रकार के मोड़ों से धारा नहीं उत्पन्न की जा सकती। यही दशा पात्रों की भी है। कहानी में एक या दो ही पात्र मुख्य होते हैं। क्योंकि पाठक थोड़े समय में इससे अधिक पात्रों पर अपना ध्यान नहीं जमा सकता। जो कहानी-लेखक कहानी में पात्र पर पात्र एकत्र करता चला जाए तो समझ लेना चाहिए कि वह कहानी न लिखकर सूचीपत्र बना रहा है। संवादों को लेते हैं तो इनका आकार-

प्रकार भी कहानी में छोटा और सधा हुआ ही अच्छा जान पड़ता है। उपन्यासों में तो कुछ लंबे संवाद और सम्वादों की लम्बी पदावली भी खप सकती है किन्तु कहानियों में सम्वादों का थोड़ा-सा भी लम्बापन खटकने लगता है। सम्वादों की योजना कहानी में केवल इसलिए की जाती है जिससे पढनेवाला यह न समझे कि हम पुराण पढ़ रहे हैं। उसे इतना ही ज्ञात हो जाए कि कहानी के पात्र सजीव है और उन्होंने मौनवृत्ति की दीक्षा नही ली है। सम्वाद रखने में ऐसी सावधानी भी चाहिए जिससे पता चले कि दो व्यक्ति बातचीत कर रहे हैं, केवल दो मुख नहीं बोल रहे हैं। तात्पर्य यह कि संवादों द्वारा बोलनेवाले व्यक्तियों की भिन्नता का आभास देना चाहिए। देश-काल का वैसा संकेत, जैसा उपन्यासों में दिया जाता है, इसमें नही दिया जा सकता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि कहानी लिखनेवाला विशेष देश या काल के आचार-व्यवहार से तटस्थ रहे। जिन कहानियों का उद्देश्य स्मृत्याभास पद्धति से अतीत जीवन की अनुभूति कराना होता है उनमें देश-काल का विचार पूर्णतया अपेक्षित होता है। इस प्रकार की मनोहर कहानियां इधर श्री भगवतशरण उपाध्याय 'सवेरा, संघर्ष और गर्जन' में प्रस्तुत कर चुके हैं। पुरातत्त्ववेत्ता होने के कारण उनकी कहानियो में देश-काल का बहुत ही सुन्दर समन्वय हुआ है। ऐसी ही कुछ कहानियां 'प्रसाद' जी की भी हैं, जिनमें से 'सालवती' सर्वोत्कृष्ट है। उसमें गणतन्त्र राज्यों की रीति-नीति का रमणीय दृश्य अंकित किया गया है।

प्रश्न होता है कि कहानियों का उद्देश्य क्या हो? साहित्य का उद्देश्य मनुष्य की अनुभूतियों की व्यंजना है। आज दिन कहानियों का उपयोग बहुत विस्तृत क्षेत्र में हो रहा है, इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य की सर्वसामान्य अनुभूतियो की व्यंजना ही उसके लिए आवश्यक है। कहानियों को केवल मनोरंजन का साधन नहीं समझना चाहिए। भारत में साहित्य कभी केवल मनोरंजन का साधन नहीं माना गया।

उसका उद्देश्य है मनुष्य को मनुष्य बनाने में सहायता पहुंचाना; असंस्कृत वासनाओं से वह जिस पशुत्व को प्राप्त हो जाता है उससे निकालकर उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर स्थापित करना। साहित्य के इसी उद्देश्य को लक्षित करके कहा गया था कि साहित्य से पराङ्मुख रहनेवाला व्यक्ति बिना सींग-पूंछ का साक्षात् पशु होता है।[1]

---

[1] साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥
—भर्तृहरि

दुखवा मैं कासे कहूं

[आचार्य चतुरसेन]

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वे सलीमा को लेकर कश्मीर के दौलतखाने में चले आए थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियां बर्फ से सफेद होकर चांदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमखाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमरमर के समान पैरों में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिनपर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक कीमती ईरानी कालीन का फर्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धंस जाता था। सुगन्धित मसालों से बने शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे कद के आइने लगे थे। संगमर-

भर के आधारों पर, सोने-चादी के फूलदानो मे ताजे फूलो के गुलदस्ते रखे थे। दीवारो और दरवाजो पर चतुराई से गुथी हुई नागकेसर और चपे की मालाए झूल रही थी, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे मे अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुए करीने से सजी हुई थी।

बादशाह दो दिन से शिकार को गए थे। इतनी रात होने पर भी नही आए थे। सलीमा खिडकी मे बैठी प्रतीक्षा कर रही थी। सलीमा ने उकताकर दस्तक दी। एक बादी दस्तबस्ता हाजिर हुई।

बादी सुन्दर और कमसिन[1] थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—

"साकी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बासुरी?"

बादी ने नम्रता से कहा, "हुजूर जिसमे खुश हो।"

सलीमा ने कहा, "पर तू किसमे खुश है?"

बादी ने कपित स्वर मे कहा, "सरकार! बादियो की खुशी ही क्या!"

सलीमा हसते-हसते लोट गई। बादी ने बशी लेकर कहा, "क्या सुनाऊ?"

बेगम ने कहा, "ठहरो, कमरा बहुत गरम मालूम देता है। इसके तमाम दरवाजे और खिडकिया खोल दे। चिरागो को बुझा दे, चटखती चादनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूलमालाए मेरे पास रख दे।"

बादी उठी। सलीमा बोली, "सुन, पहले एक गिलास शरबत दे, बहुत प्यासी हू।"

बादी ने सोने के गिलास मे खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा, "उफ्! यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमे गुलाब नही दिया?"

---

[1] कम उम्र की

बांदी ने नम्रता से कहा, "दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तंबोल और मिला।"

साकी गिलास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज मिलाई। फिर वह सुवासित[1] मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही सांस में उसे पीकर बेगम ने कहा, "अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का ही गाना सुना।"

इतना कह और गिलास को गलीचे पर लुढ़काकर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद ही लुढ़क गई, और रस-भरे नेत्रों से साकी की ओर देखने लगी। साकी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी…"

बहुत देर तक साकी की वंशी और कंठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साकी खुद भी रोने लगी। साकी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत खतम करके साकी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए हैं, और तांबूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। सांस की सुगन्ध से कमरा महक रहा है। जैसे मन्द पवन से कोमल पत्ती कांपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षस्थल धीरे-धीरे कांप रहा है। प्रस्वेद[2] की बूंदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साकी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर कांपा, आंखें जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आंचल से बेगम के मुख का पसीना

---

[1] सुगन्धित, [2] पसीना

पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुंह चूम लिया।

फिर ज्योंही उसने अचानक आंख उठाकर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहजहां खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साकी को सांप डस गया। वह हतबुद्धि की तरह बादशाह का मुंह ताकने लगी। बादशाह ने कहा, "तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साकी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा, "जवाब दे!"

साकी ने धीमे स्वर में कहा, "जहांपनाह! कनीज अगर कुछ जवाब न दे तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गए, "बांदी की इतनी हिम्मत?"

उन्होंने फिर कहा, "मेरी बात का जवाब नहीं! अच्छा, तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जाएंगे।"

साकी ने अकंपित स्वर में कहा, "मैं मर्द हूं!"

बादशाह की आंखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुंह से निकला, "उफ! फाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर उन्होंने कहा, "दोजख के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा, "मादूम!"

एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया, "इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे, ताकि बिना खाए-पिए मर जाए।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों में युवक का हाथ पकड़ा और ले चली। थोड़ी देर बाद दोनों एक लोहे के मजबूत दरवाजे के पास आ खड़े हुए। तातारी बांदी ने चाभी निकाल दरवाजा खोला, और कैदी

को भीतर ढकेल दिया । कोठरी की गच कैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही कांपती हुई नीचे धसकने लगी ।

* * *

प्रभात हुआ । सलीमा की बेहोशी दूर हुई । चौंककर उठ बैठी । बाल संवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आइने के सामने जा खड़ी हुई । खिड़कियां बन्द थीं । सलीमा ने पुकारा, 'साकी ! प्यारी साकी ! बड़ी गर्मी है, ज़रा खिड़की तो खोल दे । निगोड़ी नींद ने तो आज गजब ढा दिया । शराब कुछ तेज़ थी ।"

किसीने सलीमा की बात न सुनी । सलीमा ने ज़रा ज़ोर से पुकारा, "साक़ी !"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई । वह खुद खिड़की खोलने लगी । मगर खिड़कियां बाहर से बंद थीं । सलीमा ने विस्मय से मन ही मन कहा, "क्या बात है ? लौंडियां सब क्या हुईं ?"

वह द्वार की तरफ चली । देखा, एक तातारी बांदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है । बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया ।

सलीमा ने क्रोध से कहा, "तुम लोग यहां क्यों हो ?"

"बादशाह के हुक्म से ।"

"क्या बादशाह आ गए ?"

"जी हां ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की ?"

"हुक्म नहीं था ।"

"बादशाह कहां हैं ?"

"ज़ीनतमहल के दौलतखाने में ।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ । उसने कहा, "ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिसका कारोबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ?

तो अब ज़ीनतमहल की किस्मत खुली ?"

तातारी स्त्री चुप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली, "मेरी साकी कहां है ?"

"कैद में।"

"क्यों ?"

"जहांपनाह का हुक्म।"

"उसका क़ुसूर क्या था ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं उसे अभी छुड़ाती हूं।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी कैद हूं ?"

"जी हां।"

सलीमा की आंखों में आंसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर गड़ गई, और फूट-फूटकर रोने लगी। कुछ ठहरकर उसने एक ख़त लिखा—

"हुज़ूर! क़ुसूर माफ़ फ़र्मावें। दिन-भर थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई कि हुज़ूर के इस्तक़बाल में हाज़िर न रह सकी। और मेरी उस लौंडी को भी जाबख़्शी की जाए। उसने हुज़ूर के दौलतख़ाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी क़ुसूर किया है। मगर वह नई, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है।

कनीज़—

सलीमा"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह ने आगे होकर कहा, "क्या लाई है ?"

बांदी ने दस्तबस्ता अर्ज़ की, "ख़ुदावन्द! सलीमा बीबी की अर्ज़ी है।"

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा, "उससे कह दे कि मर जाए।" इसके बाद खत में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुंह फेर लिया।

बांदी सलीमा के पास लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती में बैठ गई। उसने बांदी को बाहर जाने का हुक्म दिया और दरवाज़ा बन्द करके फूट-फूटकर रोई। घंटों बीत गए; दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा, "हाय बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है! इन्तज़ारी करते-करते आंखें फूट जाएं, मिन्नतें करते-करते ज़बान घिस जाए, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाए, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं ज़रा सो गई, उनके आने पर जग न सकी, इतनी सज़ा! इतनी बेइज्ज़ती! तब मैं बेगम क्या हुई! ज़ीनत और बांदियां सुनेंगी तो क्या कहेंगी? इस बेइज्ज़ती के बाद मुंह दिखाने लायक कहां रही? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस! मैं किसी गरीब किसान की औरत क्यों न हुई!"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गए। वह सांपनी की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और खत लिखा—

"दुनिया के मालिक! आपकी बीवी और कनीज़ होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूं। इतनी बेइज्ज़ती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस कदर नाचीज़ तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफी की इतनी बड़ी सज़ा दी जाए। मेरा कुसूर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेखबर सो गई थी। खैर, सिर्फ एक बार हुज़ूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूं। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज़ करूंगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रखे।

—सलीमा"

H1749

रात को इत्रसे सुवासित करके ताजे फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसीकी उसपर फौरन ही नजर पड़ जाए। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अंगूठी निकाली, और कुछ देर तक आंखें गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

बादशाह शाम की हवाखोरी को नजरबाग में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए और चिट्ठी पेश करके अर्ज की, "हुजूर, गजब हो गया! सलीमा बीबी ने जहर खा लिया है और वे मर रही हैं!"

क्षण-भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल पहुंचे। प्यारी दुलहिन सलीमा जमीन में पड़ी है। आंखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से न रहा गया। उन्होंने घबराकर कहा, "हकीम, हकीम को बुलाओ!"

कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा, और धीमे स्वर में कहा, "जहे-किस्मत!"

बादशाह ने नजदीक बैठकर कहा, "सलीमा! बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाजिम था ?"

सलीमा ने कष्ट से कहा, "हुजूर, मेरा कुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा, "बदनसीब! शाही जनानखाने में मर्द को भेस बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है ? कानों पर यकीन कभी न करता, मगर आंखोंदेखी को भी झूठ मान लू ?"

तड़पकर सलीमा ने कहा, "क्या ?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा, "सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, वह जवान कौन था ?

सलीमा ने अचकचाकर पूछा, "कौन जवान ?"

बादशाह ने गुस्से से कहा, "जिसे तुमने साकी बनाकर पास रखा था।"

सलीमा ने घबराकर कहा, "हैं ! क्या वह मर्द है ?"

बादशाह बोले, "तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं ?"

सलीमा के मुंह से निकला, "या खुदा !"

फिर उसके नेत्रों से आंसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली, "खाविंद ! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं; इस कुसूर की तो यही सजा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ फर्माई जाए। मैं अल्लाह के नाम पर कहती हूं, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा, "तो प्यारी सलीमा ! तुम बेकुसूर ही चली !" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा, "मालिक मेरे ! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मजा मिल गया। कहा-सुना माफ हो, और एक अर्ज लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा, "जल्दी कहो सलीमा !"

सलीमा ने साहस से कहा, "उस जवान को माफ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आंखों से आंसू बह चले, और थोड़ी ही देर में वह ठंडी हो गई।

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

गजब के अंधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़ खुले। प्रकाश के साथ ही एक गम्भीर शब्द तहखाने में भर गया, "बदनसीब नौजवान ! क्या होश-हवास में है ?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा, "कौन ?"

जवाब मिला, "बादशाह।"

युवक ने कुछ अदब किए बिना कहा, "यह जगह बादशाहों के

लायक नही है। क्यो तशरीफ लाए हैं ?"

"तुम्हारी कैफियत नही सुनी थी, उसे सुनने आया हू।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा, "सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिए कैफियत देता हू, सुनिए : सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी। पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा पर्दे में रहने लगी, और फिर वह शहशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अन्त मे भेस बदलकर बादी की नौकरी कर ली। सिर्फ उसे देखते रहने और खिदमत करके दिन गुज़ारने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चादनी, सुगन्धित पुष्प-राशि, शराब की उत्तेजना और एकांत ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आचल से उसके मुख का पसीना पोछा, और मुह चूम लिया। मै इतना ही खतावार हू। सलीमा इसकी बाबत कुछ नही जानती।"

बादशाह कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद वे बिना दरवाज़ा बन्द किए धीरे-धीरे चले गए।

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गए। बादशाह सलीमा के कमरे मे ही दिन-रात रहते हैं। सामने, नदी के उस पार, पेडो के झुरमुट मे सलीमा की सफेद कब्र बनी है। जिस खिडकी के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन-रात देखा करते हैं। किसीको पास आने का हुक्म नही। जब आधी रात हो जाती है तो उस गभीर रात्रि के सन्नाटे मे एक मर्मभेदिनी गीत-ध्वनि उठ खडी होती है। बादशाह साफ-साफ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर मे गा रहा है—"दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी ?…"

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

[जैनेन्द्रकुमार]

परवशता से बिंधे विहंग जब पलकों में भर पानी,
कलियुग के हे 'वाल्मीकि' तब कढ़ी तुम्हारी वानी।
वर्ग-धर्म का स्वर्ग न रचकर जन-जीवन की रचना,
तुमने की, देखा न धरा पर रहकर नभ का सपना।
जनता की भाषा में भरकर भाव, मुक्त जीवन का,
कढ़ी तुम्हारी जिह्वा से 'भारत भारती' भवानी।
गिरी गगन से, पर धरती पर खड़ी रह गई बोली,
कढ़े अधर से छन्द भर गई भारत मां की झोली।
अपना कल्पित लोक बसाकर भगे न पद-दलितों से,
वैष्णव-जन, तूने तो सचमुच पीर-पराई जानी।

—शिवसिंह 'सरोज'

शायद तीसरी क्लास में पढता था। तब 'मैथिलीशरण गुप्त' नाम मैंने सुना। न जाने कितने कानों में होकर वह मुझ तक पहुंचा होगा। प्रसिद्धि ऐसे ही कानों-कान फैलती है। सोचता हूं कि तब मैं क्या जानने योग्य रहा हूंगा। अक्षर पढना-भर जानता हूंगा। पर जिस शाला में मैं था, उसके छोटे-बड़े, जान-अनजान सब बालकों के सिर, उन दिनों मैथिलीशरणजी और उनके पद्य ऐसे चढ गए थे कि हरेक यह दिखलाना चाहता था कि उसको अधिक पद्य याद हैं। मेरे कण्ठ भी तब कई पद्य बैठ गए थे। मतलब तो उनका पूरा हम क्या समझते होंगे, फिर भी

धरोहर की भांति सेतकर उन पद्यो को हम अपनी स्मृति मे रखे रहना चाहते थे, और ढिठाई देखिए, अनुकरण मे वैसी कुछ पद्य-रचना भी खुद किया करते थे।

दिन बीतने के साथ वह नाम कुछ बड़ा होता गया। मन के भीतर वह ज्यादा जगह घेरता गया। जैसे उस नामधारी व्यक्ति को जबर-दस्त आकार-प्रकार का भी होना चाहिए, नही तो हम नही मानेंगे। छठी क्लास मे था कि सातवी मे उनके 'जयद्रथवध' के खण्ड पाठ्य के तौर पर पढे। ऐसा लगता था कि मैथिलीशरण जाने क्या-क्या होंगे। बस पुराण-पुरुषोत्तम ही होंगे और चिरगाव कोई अनुपम गाव होगा।

कौन जानता था कि करिश्मा होने मे आएगा, लेकिन सन् '१४ के बाद सन् '३१ भी आया और करिश्मा सचमुच होने मे आ गया। लेकिन जो हुआ वह करिश्मा बिलकुल मालूम नही हुआ। अरे, मैंने देखा कि यह तो सारी बात एकदम मामूली बात की तरह हो गई। मैथिलीशरण एकदम मामूली आदमी हैं, चिरगाव बिलकुल मामूली गाव है। सब सर्वसाधारण है। और मैं सोचता हू कि वाह!

कहना चाहिए, मैं चिरगाव योही जा धमका। मानिए कि 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान' बनने की ही बात हुई। वे कौन मुझे जानते थे। बस, भाई सियारामशरण का शायद एक पत्र उससे पहले मैंने पाया था। श्री कृष्णानन्द गुप्त से, जो चिरगाव मे रहते थे, कुछ चिट्ठी-पत्री हो गई थी। इतना सहारा थामकर पूछता-पाछता मैं गुप्त लोगो के बडे-से अहाते मे जा मौजूद हुआ। वहा खडे होकर क्षण-भर सोचता रह गया कि अब क्या कहकर क्या करू। पास नीम के पेड में पडे हुए एक झूले में छोटी पटरी रखे एक अधेडवय के कृशकाय महाशय नीमास्तीन मैली-सी बडी पहने धीमे-धीमे झूल रहे थे। वह बडी खद्दर क्या, टाट की थी और सच कहू, तो बहुत सफेद नही थी। और धोती ऐसी कि

मानो कृपापूर्वक उसे घुटने से जरा नीचे तक आ जाने की इजाज़त मिली होगी। धोती वह बस यथावश्यक ही थी और अपने नाम से अधिक काम नहीं करती थी। कपड़े का टुकड़ा ही उसे कहिए।

मैं अपनी बगल में छोटा-सा पुलिन्दा दाबे उस बड़े अहाते के बीच खड़ा कुछ भूल-सा गया कि अपने साथ क्या करूं, क्या कहूं, और क्या पूछूं। झूलनेवाले तो मन-मन कुछ गुनगुना रहे हैं और बाहर का उन्हें विशेष ध्यान नही है।

पर मिनट-भर में सब हो गया। किसीने मुझे सम्बोधित किया। मैंने सियाराम को पूछा, अपना नाम बताया। जिसपर झट सियाराम मौजूद। कृष्णानन्द भी उपस्थित। और देखते-देखते मैं ऐसी आत्मीयता से घिर गया कि क्या कहूं। झूलनेवाले निकले खुद मैथिलीशरण गुप्त! और क्षण-भर में वहा मेरे चारों ओर ऐसा घर बन गया कि अपने घर से ज्यादा। उस समय जैसे मुझे थोड़ी देर के लिए भी इन लोगों के प्रति अपने को अजनबी समझने के अपराध पर कुण्ठा होने लगी। सचमुच मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। कुछ क्षण में मेरा पुलिन्दा छिन गया जैसे मेरी गाठ खो गई।

और मैंने सोचा कि राम-राम मैथिलीशरण यह! यह मैथिलीशरण!!

फिर क्या एक रोज में छुट्टी मिलनेवाली थी! कई-रोज़ वहा रहना हुआ। मैं चाहता हू कि मेरी एक बात वे भी सुन ले और सब पाठक भी कान खोलकर सुन ले। वह यह कि चिरगाव के उस घर की खातिर बस आफत है। अतिथि की खैर नही; पर आप नीतिज्ञों से पूछ देखिए, कि पेट पर जुल्म नही होना चाहिए और स्नेह भी एक मिकदार में ही आदमी झेल सकता है।

उसके बाद कई बार चिरगाव जाने का मौका हुआ है। हर बार

मैंने यह अनुभव किया है कि उस घर में जाकर किसी बाहरवाले में अपना-परायापन या अपना-अपनापन कायम नही रह सकता। वहा वैसी सुध-बुध बिसर जाती है; वातावरण में इतना स्नेह है कि जितना नही होना चाहिए; बीसवी सदी के शहरो मे रहनेवाला आदमी ऐसे स्नेह पाने का आदी नही होता। उसे अविश्वास से काफी काम पडता है, और दम्भ से भी काम पडता है। इससे खुले स्नेह में वह कुछ खोया-सा हो सकता है। शहराती को मालूम हो सकता है कि यह स्नेह का अर्पण कहा है, यह तो सीधा-सच्चा आक्रमण है। पर, उस आक्रमण से यहा कोई बचाव नही है। और बचाव कहा से हो, आदमी निरस्त्र तो पहले हो जाता है। चिरगाव का वह गुप्त लोगो का घर बहुत-सी बातो मे आधुनिक नही है, पुरातन है, या कहो सनातन है। वह घर यानी मैथिलीशरण, एक ही बात है। घर और वे एक हैं। दोनों मे प्रकृति की एकता है।

चिरगाव गाव, बीसवी सदी से अछूता है, सो नही, बल्कि इसी अहाते के एक ओर एक खासा बडा छापाखाना है। यहां इजिन चलता रहता है और मशीन की खट-पट खूब गूजती है। तरह-तरह के कल-पुरजे इधर-उधर आपको दिखाई देगे। नये टट्टीघर फ्लश-सिस्टम के हैं। इस तरह उस परिवार का चौदहवी सदी की कोई यादगार या खड नही कह सकते, पर निस्सदेह गुप्त-घराने के अन्तरग मे ठेठ भारतीयता से हटकर दूसरी वस्तु अभी प्रवेश नही पा सकी है। परम्परा सनातन है और उस परम्परा की वहा अक्षुण्ण रक्षा है।

गुप्त-परिवार का पारिवारिक सगठन नये नमूने का नही है। वह पुरातन शैली का है, पर इस कारण शिथिल नही बल्कि सक्षम है। इतना सक्षम है कि आधुनिकता को वह झेल ही नही रहा है, बल्कि समीचीन भाव से उसे गति भी दे रहा है। (मैथिलीशरण और सियारामशरण की कविता को हम पुरानी कहकर साहित्य से नही टाल सकेंगे। असहमति

जुदी बात है। पर जान उनमें भरपूर है, आंखें उनमें मूंदकर नहीं रखी गई हैं।) परिवार वह सम्मिलित ही नहीं, एक है। उसकी जीवन-शक्ति अविभक्त है और मैथिलीशरण मानो उसके प्राण-केन्द्र हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी के साथ की एक बात मुझे याद आती है। मैंने पूछा कि मैथिलीशरण से तो आपकी खुली घनिष्ठता है न?

बोले कि सो तो नहीं। हां, कुछ दिन लखनऊ में साथ रहना हुआ था। लेकिन यही राह-रास्ते की दुआ-सलाम है, आगे कुछ नहीं।

मैंने कहा कि यह हिन्दी का सौभाग्य नहीं है। नहीं, नहीं, आप दोनों को निकट आना होगा। निकट लाया जाएगा। बोलिए, कभी चिरगांव चलें?

खैर, उसीके सिलसिले में प्रेमचन्दजी ने कहा कि जैनेन्द्र, मुझे एक बड़ा अचरज है। मैथिलीशरण और सियारामशरण दोनों भाइयों को देखकर मैं हैरत में रह जाता हूं। लक्ष्मण भी क्या रामचन्द्र के प्रति ऐसे होंगे! जैनेन्द्र, दो भाई ऐसे अभिन्न कैसे हो सकते हैं? मेरी तो समझ में नहीं आता। कहीं मैंने उनमें भेद नहीं देखा। या तो दोनों में से किसी एक में कुछ कमी है, दम नहीं है, जान नहीं है या नहीं तो फिर क्या कहूं?

मैंने कहा कि दो सगे भाई झगड़े, क्या यह आप स्वाभाविक मानेंगे?

बोले कि तो और क्या? दस्तूर तो यही है। भाई सगे तो छुटपने के होते हैं। बड़े होकर वे आपस में भाई-भाई तक भी क्यों रहें, लड़ने से उन्हें कौन रोक सकता है? तो मैं देखता हूं कि सगे भाई अधिकतर दुश्मन बनकर ही रहते हैं, स्पर्धा से वे बच नहीं सकते।

मैंने कहा कि दुनिया को तो मैं क्या जानूं; लेकिन सियाराम और मैथिलीशरण में क्या, बल्कि सभी भाइयों में सचमुच जरा भी भेद नहीं है। मैं तो चिरगांव कई बार हो आया हूं।

प्रेमचन्दजी बोले कि यही तो। वे अपने इस विस्मय को कभी नही जीत सके। वह मानो उनके भीतर हल ही नही होना था। पर उधर जब यह बात मैने गुप्त-भाइयो को सुनाई; तो उन्हे प्रेमचन्दजी के विस्मय पर बड़ा विस्मय हुआ! दो भाइयो के बीच कुछ अन्यथा सबध सभव भी हो सकता है, मानो यही उनके लिए अकल्पनीय था।

तो यह अन्तर है। शहरो के लिए अविश्वास स्वाभाविक है और परिवार का विभक्त होते जाना स्वाभाविक है। यहा तक कि पति-पत्नी मे पृथक् अधिकार की भावना हो आए।

पर यह शहरियत विशेषत. मैथिलीशरणजी के प्रयत्न से उनके परिवार को नही छू सकी है। मैथिलीशरणजी मे इसकी छूत नही है।

इससे वे अपने व्यवहार मे हार्दिक है। ऊपरी लिहाज मे चूक सकते है। अदब के नियमो मे भूल कर सकते है, पर अपनी भूल मे भी वे हार्दिक है और प्रेम को नही भूल सकते। हृदय को पीछे रोककर चलना उन्हे कम आता है।

मैं मानता हू कि पारिवारिक, अर्थात्—पारिपार्श्विक वातावरण की इस सुविधा के कारण ही उनका काव्य सघर्षजनित पीडा से इतना अछूता रह सका है। उसमे वेदना का उभार नही है, जैसाकि सुरक्षित व्यवस्था है। वह दुर्दमनीय नही, मर्यादाशील है।

'नाम बडे दर्शन थोडे'—उनकी पहली छाप मुझपर यह पडी। शुरू मे चाहे यह अनुभव मुझे कैसा भी लगा हो, पर पीछे ज्यो-ज्यो मैं जानता गया हू, मालूम हुआ कि दर्शन को थोडा रखकर ही उन्होने अपना नाम बडा कर पाया है। अपने चारो ओर दर्शनीयता उन्होने नही बटोरी, वल्कि कहो कि वे उससे उलटे चले है। रूप उन्होने आकर्षक नही पाया, इतने से ही मानो मैथिलीशरण सन्तुष्ट नही है। अपनी ओर से भी वे किसी तरह उसे आकर्षक न बनने दें, मानो इसका भी

उन्हें ध्यान रहता है। लिबास मोटा, देहाती और कुढंगा। सज्जा यदि हो तो तदनुकूल और आधुनिक फैशन के प्रतिकूल। सिर पर बुन्देलखण्डी पगड़ी, घुटने तक गया कुरता और लगभग घुटने तक ही रहनेवाली धोती। बाल इतने छोटे कि उन्हें चाहकर भी संवारा न जा सके। शरीर कृश और श्यामल। मूंछें बेरोक उगती हुई, जिनमें कोई छटाव नहीं। मानो देखनेवाले को अपने समूचेपन से मैथिलीशरण घोषित करना चाहते हों कि मैं किसी सम्भ्रम के योग्य प्राणी नहीं हूं। उत्सुकता का, या शोभा का, या समादर का पात्र कोई और होगा। मैं साधारण में साधारण हूं। देखो न, मैं ऐसा तो हूं कि जिसे जरा ऊपरी ढंग भी नहीं आता।

फिर भी सच यह है कि उनके ढंग में भी एक अपनी आन है, एक निजत्व है। और इधर की उनकी बड़ी मूंछों के साथवाली छोटी दाढ़ी के फोटोग्राफ देखता हूं, तो रोब पड़े बिना मुझपर नहीं रहता। कबूल करना चाहिए कि आमने-सामने होकर वह रोब मुझे अनुभव नहीं होता; क्योंकि वे मिलते ही ऐसे खुले अपनापे के साथ हैं कि रोब बेचारा क्या करे?

खैर, मालूम होता है कि अपने बारे में वे न गलतफहमी खुद चाहते हैं, न औरों में चाहते हैं, जो हैं, सो हैं। न अधिक मानते हैं, न अधिक दीखते हैं। और जो हैं, उससे कम कोई मानना चाहे, तो उसे भी छुट्टी है, लेकिन सच है कि कम माना जाना भी उन्हें पसंद नहीं है। इज्जत में व्यतिरेक[1] नहीं आ सकता। कुल के और अन्य प्रकार के गौरव की टेक उनमें है। इस मामले में वे दुर्बल भी हैं, हठीले भी हैं।

प्रतीत होता है कि दुनिया में इस यथार्थ की स्वीकृति के द्वारा ही वे अपना महत्त्व बना सके हैं। निषेध अथवा चुनौतीमूलक उनका महत्त्व नहीं है। किन्हीं नये मूल्यों की प्रतिष्ठा उनके जीवन में नहीं है, मान्य

---

[1] अन्तर

की ही मान्यता है।

गाम्भीर्य ? नही भाई, वह मैंने नही पाया। और अपनी जानें। मैं तो अपनी कहूं। गम्भीरता की मैंने कमी पाई। 'कमी' भी सोच-समझकर कह रहा हू। किसीके बुरा मानने का डर न हो, तो शायद कहूं कि अभाव पाया। और कुछ मैथिलीशरण आवश्यक से अधिक हों, गम्भीर आशा से कम हैं। शायद आवश्यकता से भी कम हैं। मैं अनुमान कुछ करता था, निकला कुछ। विद्वान को गम्भीर होना चाहिए, पर मैथिलीशरणजी के ऊपर विद्वत्ता ढग के साथ टिकती मैंने नही देखी। बीच में चपलता झाक ही उठती है। कभी तो डर होता है कि क्या वे सचमुच पचास से ऊपर के हैं भी ? मालूम होता है कि जो भी हो पर अब भी बचपन है। जिससे बुढापे की आशा हो, उसकी जवानी हमें बचपन न लगेगी, तो क्या लगेगी ? धीमे नही चलते, तेज़ चलते हैं। कभी पचास से ऊपर उम्रवालो का भाग-कूद के खेलो का भारतीय टूर्नामेंट हो जाए, तो मैथिलीशरण का नम्बर शर्तिया पिछड़ा नही रह सकता। जहा मैं सोचता रह गया हू, वे कर गुजरे हैं। सडक पर हम कई जन जा रहे हैं, एक बच्चा किसीकी चपेट में आकर रास्ते की धूल मे गिर पडा, तो आपमें से पहले वे होंगे, जो उसे उठाएगे। सूझ-बूझ उनमे जगी रहती है। परिस्थिति से वे दबते नही हैं। मानो परिस्थिति के प्रति सजग रहते हैं। आधुनिक सूट-बूटवाले समाज मे भी अगर उनका पहुचना हो जाए, तो अपने देहाती बाने को लेकर वहा भी वे मन्द नही दीखेंगे। टी-पार्टी होगी, तो चाय न पिएगे, न शायद कुछ खाएगे। कदाचित् फल भी न छुएगे, पर उस पार्टी में अपने परहेज के कारण असमजस में किसीको न पडने देंगे। मिलेंगे, बोलेंगे, हसेंगे और अपनी चाल-ढाल की असाधारणता पर या कि परहेज़ पर मानो किसीका भी ध्यान तनिक न रुकने देंगे। गलती वे बड़े सहज भाव से कर

सकते हैं; पर कुंठित व्यग्रता या असमंजस द्वारा अपनी गलती को डबल गलती बनाने की गलती वे कभी नहीं करते। मानो अपने व्यवहार से वे स्पष्ट व्यक्त रखते हैं कि (आपके) समाज का अदब-कायदा कुछ तो है, तो वह जरूर है। पर मैं जितना जानता हूं, उतना ही जानता हूं। अधिक नहीं जानता, इसकी लज्जा से अपनी उपस्थिति में मैं किसीको लज्जित नहीं होने दूंगा। आपकी उदारता के सम्मान में अपनी ही त्रुटि पर मन्दभागी दीखने का अपराध मैं नहीं कर सकता।

पर अदब-कायदे के प्रति अवज्ञा उनमें नहीं है। अवज्ञा किसीके प्रति नहीं है। इस बारे में वे कमज़ोर तक हैं। पुरानी परिपाटी का अदब-कायदा उनमें छूट नहीं सकता। वे हरेक से शालीनता की आशा रखते हैं। छोटा छोटा है; बड़ा बड़ा है। सबको अपना पद देखकर चलना चाहिए। अपने प्रति भी अविनय उन्हें दुस्सह है; इसलिए कम कि वह उनके प्रति है, अधिक इसलिए कि वह अविनय है। इसीसे अविनय के लिए वे अपने समान किसीको क्षमा नहीं कर सकते। वे निवेदन तक झुक सकते हैं। हो सकता है कि झुकने में वे हद लांघ जाएं; पर किसीके मान को चुनौती दे, यह असम्भव है। अपने से बड़ों को बड़ा मानते हैं, और यह हो सकता है कि अपने से छोटों को भी बड़ा मान बैठें। लेकिन जिनको अपने से छोटा मानना होता है, उनसे वे प्रत्याशा रखते हैं कि छोटों की तरह बड़ों का मान रखकर वे चलें। वय की अवज्ञा उन्हें नापसन्द है। और वय[1] की वृद्धता के कारण, मूढ़ भी उनके निकट आदरणीय हो सकता है। विद्या-बुद्धि नहीं, गुण भी उतना नहीं जितना सामाजिकता के लिहाज से मनुष्य-मनुष्य के प्रति अपने व्यवहार में वे भेद करते हैं। राजा और रंक उनके लिए समान नहीं हैं। राजा को 'हुजूर' कहेंगे, रंक को 'तू' भी कह देंगे, लेकिन दबेंगे राजा से नहीं, दबाएंगे रंक को भी नहीं।

---

[1] उम्र

सामाजिक मर्यादाओं को बुद्धि-बल से इनकार करके चलने की उनमें स्पर्धा नहीं है। वैसी रुचि और संस्कार ही नहीं है। व्यावहारिक समता उनके संस्कारों के प्रतिकूल है। हरिजन के अर्थ जबर्दस्त उत्सर्ग वे कर सकते हैं; पर चौके की और बात है। और छूत-छात—यह भी और बात है।

कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक, इसमें गर्भित है कि सहनशीलता कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।

मानव-स्वभाव का विकास दोहरा होता है। दो दिशाओं में होता है। एक ओर उपमा व्यक्तित्व को दी जाती है कि पर्वत की नाईं अचल, वज्र की भाति अनिवार्य और कठोर, इत्यादि। ये उपमाए सन्त-महात्माओं पर फबती हैं। दूसरी तरफ की उपमाएं हैं कि कुसुमवत् कोमल, जल सरीखा तरल आदि। इन उपमाओं के योग्य कवि होते है; जैसे बारीक तार का कसा हुआ कोई कोमल वाद्ययन्त्र। तनिक चोट लगी कि उसमें से झंकार फूट आई।

मैथिलीशरण किस कोमल वाद्ययन्त्र के समान हैं, यह तो मैं नही जानता। सवेदन की मूर्च्छना की सूक्ष्मता मैं क्या समझूं! लेकिन वे अपने आवेशों को वश मे रखनेवाले महात्मा नही हैं। आवेशो के साथ बहुत कुछ समस्वर होकर बज उठनेवाला कवि का स्वभाव उनका है। बहुत कुछ समस्वर कहा, एकदम एकस्वर नही कहा। पूरी तरह अपनी ही तरगो के साथ एकात्म है, उनमे तो मानो अपना कुछ है ही नही। जो है त्रिगुणात्मक लीला है। वे स्वय उद्वेलित नही होते। ऐसा पुरुष कवि होता है और अनायास महात्मा भी वह है। मैथिलीशरण उनमे नही; पर अपने आवेशों के साथ वे हार्दिक अवश्य हैं। इसीसे उनके काव्य में प्रेरणा है और सचाई है। झोंका आया कि क्रोध में

उनके नथने फूल आए, आंखें लाल हो गई और शिराएं मानो फड़क उठीं। यह हो सकता है ; पर झोंका बीता कि किस बात पर उनकी आंखें नहीं डबडबा आएंगी, यह आप नहीं कह सकते।

कभी कविता-पाठ करते उन्हें देखा है ? मैंने देखा है। उसमें संगीत की बहार नहीं रहती, अभिनय-कौशल नहीं रहता। पर जैसे उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एक हो जाती है। जो शब्द है, मानो वही स्वर है। स्वर का आरोह भाव की लय पर मानो आप ही उठता है और भाव के उतरने के साथ मानो अवरोह स्वयं शनैः-शनैः आ जाता है। ध्वनि लय के अनुसार चलती है। कविता के भाव से अलग होकर मैथिलीशरणजी के काव्य-पाठ में श्रोता के लिए मानो रस की कोई बात नहीं रहती। जो कविता है वही कविता का पाठ है।

मैथिलीशरण स्वकेन्द्रित नहीं हैं। इससे उनकी कविता भक्ति की प्रेरणा से आकर भी रहस्यमयी नहीं है, उपासनामयी है। न उनमें चहुं ओर के दबाव की पीड़ा है। समस्या के भाव से भरी हुई वह नहीं है। दन और निवेदन का स्वर मध्यम है। उसमें कुछ-कुछ आदेश की बलिष्ठता है और प्रतिपादन की स्पष्टता। उनका काव्य कथानुसारी है, वह घटना के साथ चलता है। वह आत्मलक्षी, स्वपरोपकारोपलक्षी है।

मैथिलीशरण कोमल हैं, तो दूसरे को लेकर ; भाव-प्रवण हैं, तो दूसरे के निमित्त। मानो स्वयं में उनके पास कुछ खर्चने को नहीं है। पुण्यश्लोक पुरुषों की गाथाएं हैं, और उनका ही गान उन्हें बस है। उसके आगे अपना निज का आवेदन-निवेदन क्या ?

मुझे प्रेमचन्द की याद आती है। प्रेमचन्द निरीह थे, एकाकी। मैथिलीशरण अभिन्न नहीं है, उस अर्थ में अकेले नहीं हैं। प्रेमचन्द दुनिया को लेकर परेशान रहे। उसका सुधार करते रहे और अपना बिगाड़ करते रहे। कर्म में लोक-संग्रह से विमुख रहे, चिन्ता में लोक-

समस्याओं से घिरे रहे। मैथिलीशरण लोक-संग्रह से उतने विमुख नहीं हैं और उनकी बुद्धि लोकोत्तर की ओर है। उनका इहलोक अस्त-व्यस्त नहीं है। उनकी चिन्ता इससे सुविधाप्राप्त है। प्रेमचन्द मानसिक चिन्ता, यानी साहित्य,से इस लोक के थे। ऐहिक कार्य के दृष्टिकोण से मानो वे यहां रहते नहीं थे। पर मैथिलीशरण का साहित्य द्वारा लोकोत्तर से नाता है। ऐहिक विचार में वे ऐहिक हैं।

मशीन में मैथिलीशरण कविता से शायद कम दिलचस्पी नहीं लेते। कल-पुरजों में उन्हें अच्छी गति है, और रस है। आपके यहां कोई पुराना इंजन है, तो मैथिलीशरणजी को याद कीजिए। वे कुछ आकर देंगे। अरे, इंजिन ठीक होकर आज नहीं कल तो काम आएगा। व्यवहार में व्यर्थता छूट जाए तो छूट जाए, पर काम की बात उनसे नहीं छूट सकती। वे जब बनिये हैं, तो अधूरे नहीं हैं। यह पक्ष उनमें पूरा उतरता है। चाहे इस पक्ष में ब्राह्मणत्व उनका कुछ दब भी क्यों न जाता हो। वे टोटे में रहना नहीं जानते। और टोटा है तो व्यवसाय का टोटा है, जोकि लगा ही रहता है। यह नहीं कि वे पैसा कमाने के सम्बन्ध में बहुत तल्लीन हो सकते हैं। मुझे जान पड़ता है कि द्रव्य-विचार में उन्हें लीनता प्राप्त हो नहीं सकती, पर व्यवसाय की बात में चतुर उन्हें आप मत जानिएगा।

अपने सम्बन्धों के बारे में वे सावधान हैं। हर कोई उनका दोस्त नहीं बन सकता, पर दोस्त बनकर कुछ और नहीं बन सकता। उनका विश्वास महंगा है। दिल वे अपना बहुत अधिक नहीं बांटते। वे भीड़ के आदमी नहीं। भीड़ में वे अकेले हैं। न वे भीड़ को दिशा दे सकते हैं, न उसका साथ दे सकते हैं। वाणी उनकी मुक्त नहीं और वे प्रवास-भीरु तो क्या, पब्लिक-भीरु हैं।

बहुत कुछ उनको अनायास सिद्ध है। कविता में शब्द और तुक।

सफर में तीसरा दर्जा। भूषा में सादगी। वेश में निरगांवता। प्रेम में अपत्य-प्रेम। वाणी में मितभाषण और साहित्य में सुरुचि। इन सभीके लिए प्रयासी को प्रयास लगता है। राष्ट्रीय व्यक्ति के लिए रेल का तीसरा दर्जा अभी तक सहज नहीं है, यह गौरव का विषय है। किन्हीं-को जरूरत रहती है कि कोई उन्हें देखे, किन्हीको जरूरत रहती है कि कोई उन्हें न देखे। यही हाल हमारे साथ सादगी का है। पर मैथिली-शरणजी को मालूम होता है कि दूसरी कोई बात मालूम नहीं।

ये अंग्रेजी नहीं जानते, पर अंग्रेजी में चलनेवाली राजनीति को वे जानते हैं। सवेरे डाक आई कि चिट्ठी देखी। फिर अखबार ले लिए। अखबार जल्दी उनसे नहीं छूटते। ये बातों को जानकर नहीं, जिन्हें जानते हैं उनके विषय में कुछ महसूस करके दम लेते हैं। ये अपने जानने को मानो हृदय के साथ भी जोड़े रखना चाहते हैं। इससे आधुनिक विचारधाराओं से ये अवगत ही नहीं रहते, उनके प्रति सहानुभूति रख सकते हैं। उनकी अवस्था बौद्धिक नहीं है। बौद्धिक तल पर अतः वे बंधनहीन और उदार धीरता से प्रश्नों की गहराई छू सकते हैं। बारीक बातें उनसे नहीं बचतीं और मानस-सम्बन्धों की परख में वे सूक्ष्मदर्शी हैं। चिरगाव से न टलना उनके हक में भीरुता ही नहीं है, साधन भी है। प्रकृति से अधिक वे साधना के कवि हैं।

परदा

[यशपाल]

चौधरी पीरबख्श के दादा चुंगी के महकमे मे दारोगा थे। आमदनी अच्छी थी। एक छोटा, पक्का मकान भी उन्होने बनवा लिया। लडको को पूरी तालीम दी। दोनो लडके एण्ट्रेन्स पास कर रेलवे और डाकखाने मे बाबू हो गए। चौधरी साहब की जिन्दगी मे लडको के ब्याह और बाल-बच्चे भी हुए, लेकिन ओहदे मे खास तरक्की न हुई, वही तीन और चालीस रुपये माहवार का दर्जा।

अपने जमाने की याद कर चौधरी साहब कहते, "वो भी क्या वक्त थे। लोग मिडिल पास कर डिप्टी-कलक्टरी करते थे और आजकल की तालीम है कि एण्ट्रेन्स तक इग्रेजी पढकर लडके तीस-चालीस से आगे नही बढ पाते।" बेटो को ऊचे ओहदो पर देखने का अरमान लिए ही उन्होने आखे मूद ली।

इशा अल्ला, चौधरी साहब के कुनबे मे बरकत हुई। चौधरी फजल कुरबान रेलवे मे काम करते थे। अल्लाह ने उन्हे चार बेटे और तीन बेटिया दी। चौधरी इलाहीबख्श डाकखाने मे थे। उन्हे भी अल्लाह ने चार बेटे और दो लडकिया बख्शी।

चौधरी खानदान अपने मकान को हवेली पुकारता था। नाम बडा देने पर भी जगह तग ही रही। दारोगा साहब के जमाने मे जनाना भीतर था और बाहर बैठक मे वे मोढे पर बैठ नैचा[1] गुडगुडाया करते।

---

[1] हुक्के की निगाली

जगह की तंगी की वजह से उनके बाद बैठक भी ज़नाने में शामिल हो गई और घर की ड्योढ़ी पर परदा लटक गया। बैठक न रहने पर भी घर की इज्ज़त का ख्याल था, इसलिए परदा बोरी के टाट का नहीं, बढ़िया किस्म का रहता है।

ज़ाहिरा दोनों भाइयों के बाल-बच्चे एक ही मकान में रहने पर भी भीतर सब अलग-अलग था। ड्योढ़ी का परदा कौन भाई लाए? इस समस्या का हल इस तरह हुआ कि दारोगा साहब के ज़माने की पलंग की रंगीन दरियां एक के बाद एक ड्योढ़ी में लटकाईं जाने लगीं।

तीसरी पीढ़ी के ब्याह-शादी होने लगे। आख़िर चौधरी ख़ानदान की औलाद को हवेली छोड़ दूसरी जगहें तलाश करनी पड़ी। चौधरी इलाहीबख्श के बड़े साहबज़ादे एण्ट्रेन्स पास कर डाकख़ाने में बीस रुपये की क्लर्की पा गए। दूसरे साहबज़ादे मिडिल पास कर अस्पताल में कंपाउण्डर बन गए। ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रता जाता, तालीम और नौकरी दोनों मुश्किल होती जाती। तीसरे बेटे होनहार थे। उन्होंने वज़ीफ़ा पाया। जैसे-तैसे मिडिल पास कर एक स्कूल में मुदर्रिस[1] हो देहात चले गए।

चौथे लड़के पीरबख्श प्राइमरी से आगे न बढ़ सके। आजकल की तालीम मां-बाप पर ख़र्च के बोझ के सिवा और है क्या? स्कूल की फ़ीस हर महीने, और किताबों, कापियों और नक्शों के लिए रुपये ही रुपये।

चौधरी पीरबख्श का भी ब्याह हो गया। मौला के करम से बीबी की गोद भी जल्दी ही भरी। पीरबख्श ने रोज़गार के तौर पर ख़ानदान की इज्ज़त के ख्याल से एक तेल की मिल में मुंशीगिरी कर ली। तालीम ज़्यादा नहीं तो क्या, सफ़ेदपोश ख़ानदान की इज्ज़त का पास तो था। मज़दूरी और दस्तकारी उनके करने की चीज़ें न थीं। चौकी

---

[1] अध्यापक

पर बैठने। क़लम दवात का काम था।

बारह रुपया महीना अधिक नही होता। चौधरी पीरबख्श को मकान मितवा की कच्ची बस्ती मे लेना पडा। मकान का किराया दो रुपया था। आसपास गरीब और कमीने लोगो की बस्ती थी। कच्ची गली के बीचोबीच, गली के मुहाने पर लगे कमेटी के नल[1] से टपकते पानी की काली धार बहती रहती, जिसके किनारे घास उग आई थी। नाली पर मच्छरो और मक्खियो के बादल उमडते रहते। सामने रमजानी धोबी की भट्ठी थी, जिसमे से धुआ और सज्जी[2] मिले उबलते कपडे की गन्ध उडती रहती। दाई ओर बीकानेरी मोचियो के घर थे। बाई ओर वर्कशाप मे काम करनेवाले कुली रहते।

इस सारी बस्ती मे चौधरी पीरबख्श ही पढे-लिखे सफेदपोश थे। सिर्फ उनके घर की ड्योढी पर परदा था। सब लोग उन्हे चौधरीजी, मुशीजी कहकर सलाम करते। उनके घर की औरतो को कभी किसी ने गली में नही देखा। लडकियो का चार-पाच बरस बाद किसी काम काज से बाहर निकलना मुनासिब न था। पीरबख्श खुद ही मुस्कराते सुबह शाम कमेटी के नल से घडे भर लाते।

चौधरी की तनख्वाह पन्द्रह बरस मे बारह से अठारह हो गई। खुदा की बरकत होती है तो रुपये पैसे की शक्ल में नही, आल-औलाद की शक्ल में होती है। पन्द्रह बरस में पाच बच्चे हुए। पहले तीन लडकिया और बाद में दो लडके।

दूसरी लडकी होने को थी पीरबख्श की वालिदा मदद के लिए आई। वालिद साहब का इतकाल[3] हो चुका था। दूसरा कोई भाई

---

[1] Municipal tap

[2] खार, कपडा साफ करने का मसाला जो धोबी लोग काम म लाते है।

[3] मृत्यु

वालिदा का फिक्र करने आया नहीं; वे छोटे लड़के के यहां ही रहने लगीं।

जहां बाल-बच्चे और घर-बार होता है, सौ किस्म की झंझटें होती हैं। कभी बच्चे को तकलीफ है तो कभी जच्चा को। ऐसे वक्त पर कर्ज़ की ज़रूरत कैसे न हो? घर-बार होगा तो कर्ज़ होगा ही।

मिल की नौकरी का कायदा पक्का होता है। हर महीने की सात तारीख को गिनकर तनख्वाह मिल जाती है। पेशगी से मालिक को चिढ़ है। कभी बहुत ज़रूरत पर ही मेहरबानी करते। ज़रूरत पड़ने पर चौधरी घर की कोई छोटी-मोटी चीज़ गिरवी रखकर उधार ले आते। गिरवी रखने से रुपये के बारह आने ही मिलते। ब्याज मिलाकर सोलह आने हो जाते और फिर चीज़ के घर लौट आने की संभावना न रहती।

मुहल्ले में चौधरी पीरबख्श की इज़्ज़त थी। इज़्ज़त का आधार था घर के दरवाज़े पर लटका परदा। भीतर जो हों, परदा सलामत रहता। कभी बच्चों की खींच-खाँच या बेदर्द हवा के झोंकों से उसमें छेद हो जाते, तो परदे की आड़ से हाथ सुई-धागा ले उसकी मरम्मत कर देते।

दिनों का खेल! मकान की ड्योढ़ी के किवाड़ गलते-गलते बिलकुल गल गए। कई दफे कसे जाने से पेच टूट गए और सुराख ढीले पड़ गए। मकान मालिक मुरजू पांडे को उसकी फिक्र न थी। चौधरी कभी जाकर कहते-सुनते तो उत्तर मिलता, "कौन बड़ी रकम थमा देते हो? दो रुपल्ली किराया और वह भी छः-छः महीने का बकाया। जानते हो लकड़ी का क्या भाव है! न हो मकान छोड़ जाओ।" आखिर किवाड़ गिर गए। रात में चौधरी उन्हें जैसे-तैसे चौखट से टिका देते। रात-भर दहशत[1] रहती कि कहीं कोई चोर न आ जाए।

---

[1] भय

मुहल्ले मे सफेदपोशी और इज्जत होने पर भी चोर के लिए घर में कुछ न था। शायद एक भी साबित कपडा या बरतन ले जाने के लिए चोर को न मिलता; पर चोर तो चोर है। छिनने के लिए कुछ न हो, तो भी चोर का डर तो होता ही है। वह चोर जो ठहरा !

चोर से ज्यादा फिक्र थी आबरू की। किवाड न रहने पर परदा ही आबरू का रखवारा था। वह परदा भी तार-तार होते-होते एक रात आधी मे किसी भी हालत में लटकने लायक न रह गया। दूसरे दिन घर की एकमात्र पुश्तैनी चीज दरी दरवाज़े पर लटक गई। मुहल्लेवालो ने देखा और चौधरी को सलाह दी, "अरे चौधरी, इस जमाने में दरी यो काहे ख़राब करोगे? बाज़ार से ला टाट का टुकडा न लटका दो!" पीरबख्श टाट की कीमत भी आते-जाते कई दफ पूछ चुके थे। दो गज टाट आठ आने से कम मे न मिल सकता था। हसकर बोले, "होने दो, क्या है! हमारे यहा पक्की हवेली मे भी ड्योढी पर दरी का ही परदा रहता था।"

कपडे की महगी के इस जमाने मे घर की पाचो औरतो के शरीर से कपडे जीर्ण होकर यो गिर रहे थे जैसे पेड अपना छाल बदलते हैं, पर चौधरी साहब की आमदनी से दिन मे एक दफे किसी तरह पेट भर सकने के लिए आटे के अलावा कपडे की गुजाइश कहा? खुद उन्हे नौकरी पर जाना होता। पायजामे मे जब पैबद सभालने की ताब न रही, मारकीन का कुर्ता-पायजामा जरूरी हो गया, पर लाचार थे।

गिरवी रखने के लिए घर मे जब कुछ भी न हो, गरीब का एकमात्र सहायक है, पजाबी खान। रहने की जगह-भर देखकर वह रुपया उधार दे सकता है। दस महीने पहले गोद के लडके बरकत के जन्म के समय पीरबख्श को रुपये की जरूरत आ पडी। कही और कोई प्रबंध न हो सकने के कारण उन्होने पजाबी खान बबरअली खान से चार रुपये उधार ले लिए थे।

बबरअली खान का रोजगार सिलवा के उस कच्चे मुहल्ले में अच्छा-खासा चलता था। बीकानेरी मोची, वर्कशाप के मजदूर और कभी-कभी रंगसाजी धोबी सभी बबर मियां से कर्ज लेते रहते। कई दफे चौधरी पीरबख्श ने बबरअली को कर्ज और सूद की किस्त न मिलने पर अपने हाथ के डंडे से ऋणी का दरवाजा पीटते देखा था। उन्हें साहूकार और ऋणी में बीच-बचाव भी करना पड़ा था। खान को वे शैतान समझते थे; लेकिन लाचार हो जाने पर उसीकी शरण लेनी पड़ी। चार आना रुपया महीने पर चार रुपया कर्ज लिया। शरीफ खानदानी मुसलमान भाई का ख्याल कर बबरअली ने एक रुपया माहवार की किस्त मान ली। आठ महीने में कर्ज अदा होना तय हुआ।

खान की किस्त न दे सकने की हालत में अपने घर के दरवाजे पर फजीहत[1] हो जाने की बात का ख्याल कर चौधरी के रोएं खड़े हो जाते। सात महीने फाका करके भी वे किसी तरह से किस्त देते चले गए; लेकिन जब सावन में बरसात पिछड़ गई और बाजरा भी रुपये का तीन सेर मिलने लगा, किस्त देना सम्भव न रहा। खान सात तारीख की शाम को ही आया। चौधरी पीरबख्श ने खान की दाढ़ी छू और अल्लाह की कसम खा एक महीने की मुआफी चाही। अगले महीने एक का सवा देने का वायदा किया। खान टल गया।

भादों में हालत और भी परेशानी की हो गई। बच्चों की मां की तबीयत रोज-रोज गिरती जा रही थी। खाया-पिया उसके पेट में न ठहरता। पथ्य के लिए उसको गेहूं की रोटी देना जरूरी हो गया। गेहूं मुश्किल से रुपये का सिर्फ ढाई सेर मिलता। बीमार का जी ठहरा, कभी प्याज के टुकड़े या धनिये की खुशबू के लिए ही मचल जाता। कभी पैसे की सौंफ, अजवायन, काले नमक की ही जरूरत हो, तो पैसे की कोई चीज मिलती ही नहीं। बाजार में तांबे का नाम ही नहीं रह

---

[1] बदनामी

गया। नाहक इकन्नी निकल जाती है। चौधरी को दो रुपये महगाई भत्ते के मिले; पर पेशगी लेते-लेते तनख्वाह के दिन केवल चार ही रुपये हिसाब मे निकले।

बच्चे पिछले हफ्ते से लगभग फाके से थे। चौधरी कभी गली से दो पैसे की चौराई खरीद लाते, कभी बाजरा उबाल सब लोग कटोरा कटोरा-भर पी लेते। बडी कठिनता से मिले चार रुपयों में से सवा रुपया खान के हाथ मे धर देने की हिम्मत चौधरी को न हुई।

मिल से घर लौटते समय वे मडी की ओर टहल गए। दो घटे बाद जब समझा, खान टल गया होगा, अनाज की गठरी ले वे घर पहुचे। खान के भय से दिल डूब रहा था, लेकिन दूसरी ओर चार भूखे बच्चो, उनकी मा, दूध न उतर सकने के कारण सूखकर काटा हो रहे गोद के बच्चे और चलने-फिरने से लाचार अपनी जईफ मा की भूख से बिलबिलाती सूरतें आखो के सामने नाच जाती। धडकते हुए हृदय से वे कहते जाते, "मौला सब देखता है, खैर करेगा।"

सात तारीख की शाम को असफल हो खान आठ की सुबह खूब तडके चौधरी के मिल जाने से पहले ही अपना बडा हाथ मे लिए दरवाजे पर मौजूद हुआ।

रात-भर सोच-सोचकर चौधरी ने खान के लिए बयान तैयार किया। मिल के मालिक लालाजी चार रोज के लिए बाहर गए हैं। उनके दस्तखत के बिना किसीको भी तनख्वाह नहीं मिल सकी। तनख्वाह मिलते ही वह सवा रुपया हाजिर करेगा। माकूल वजह बताने पर भी खान बहुत देर तक गुर्राता रहा, "अम वतन छोड के परदेश में पडा है, ऐसे रुपया छोड देने के वास्ते अम यहा नहीं आया है, अमारा भी बाल-बच्चा है। चार रोज म रुपया नईं देगा, तो अम तुम्हारा·· कर देगा।"

पाचवें दिन रुपया कहा से आ जाता ? तनख्वाह मिले अभी हफ्ता

भी नहीं हुआ। मालिक ने पेशगी देने से साफ इन्कार कर दिया। छठे दिन किस्मत से इतवार था। मिल से छुट्टी रहने पर भी चौधरी खान के डर से सुबह ही बाहर निकल गए। जान-पहचान के कई आदमियों के यहां गए। इधर-उधर की बातचीत कर वे कहते, "अरे, भाई, हो तो बीस आने पैसे तो दो—एक रोज़ के लिए देना। ऐसी ही ज़रूरत आ पड़ी है।"

उत्तर मिलता, "मियां, पैसे कहां इस ज़माने में! पैसे का मोल कौड़ी नहीं रह गया। हाथ में आने से पहले ही उधार में उठ गया तमाम!"

दोपहर हो गई। खान आया भी होगा, तो इस वक्त तक बैठा नहीं रहेगा—चौधरी ने सोचा और घर की ओर चल दिए। घर पहुंचने पर सुना, खान आया था और घण्टा-भर तक ड्योढ़ी पर लटके दरी के परदे को डंडे से ठेल-ठेलकर गाली देता रहा है। परदे की आड़ से बड़ी बीबी के बार-बार खुदा कसम खा, यकीन दिलाने पर कि चौधरी बाहर गए हैं, रुपया लेने गए हैं, खान गाली देकर कहता, "नईं, बदजात, चोर भीतर में छिपा है! अम चार घंटे में फिर आता है। रुपिया लेकर जाएगा। रुपिया नईं देगा, तो उसका खाल उतारकर बाज़ार में बेच देगा...। अमारा रुपिया क्या अराम का है?"

चार घंटे से पहले ही खान की पुकार सुनाई दी—"चौदरी!" पीरबख्श के शरीर में बिजली-सी दौड़ गई और वे बिलकुल निस्सत्व हो गए, हाथ-पैर सुन्न और गला खुश्क।

गाली दे, परदे को ठेलकर खान के दुबारा पुकारने पर चौधरी का शरीर निर्जीवप्राय होने पर भी निश्चेष्ट न रह सका। वे उठकर बाहर आ गए। खान आगबबूला हो रहा था, "पैसा नईं देने का वास्ते छिपता है...!"

एक से एक बढ़ती हुई तीन गालियां एकसाथ खान के मुंह से पीर-

बख्श के पुरखों-पीरों के नाम निकल गईं। इस भयकर आघात से पीरबख्श का खानदानी रक्त भड़क उठने के बजाय और भी निर्जीव हो गया। खान के घुटने छू, अपनी मुसीबत बता वे मुआफी के लिए खुशामद करने लगे।

खान की तेजी बढ़ गई। उसके ऊचे स्वर से पडोस के मोची और मजदूर चौधरी के दरवाजे पर सामने इकट्ठे हो गए। खान क्रोध में डंडा फटकारकर कह रहा था, "पैसा नईं देना था, तो लिया क्यों? तनख्वाह किधर में जाता? अरामी अमारा पैसा मारेगा। अम तुमारा खाल खींच लेगा। पैसा नईं ऐ, तो घर पर परदा लटका के शरीफजादा कैसे बनता? तुम अमको बीबी का गैना दो, बर्तन दो, कुछ तो बी दो, अम ऐसे नईं जाएगा।"

बिलकुल बेबस और लाचारी में दोनों हाथ उठा खुदा [illegible] खान के लिए दुआ माग पीरबख्श ने कसम खाई, एक पैसा भी घर में नहीं, बर्तन भी नहीं, कपड़ा भी नहीं, खान चाहे तो बेशक उसकी खाल उतारकर बेच डाले।

खान और आग हो गया, "अम तुमारा दुआ क्या करेगा? तुमारा खाल क्या करेगा? उसका जूता बी तो नईं बनेगा। तुमारा खाल से तो यह टाट अच्छा!" खान ने ड्योढी पर लटका दरी का परदा झटक लिया। ड्योढी से परदा हटने के साथ ही, जैसे चौधरी के जीवन की डोरी टूट गई। वे डगमगाकर जमीन पर गिर पड़े।

इस दृश्य को देख सकने की ताब चौधरी में न थी, परन्तु द्वार पर खड़ी भीड़ ने देखा—घर की लड़किया और औरतें परदे के दूसरी ओर घटती घटना के आतंक से आगन के बीचोंबीच इकट्ठी हो खड़ी काप रही थीं, सहसा परदा हट जाने से औरतें ऐसे सिकुड़ गईं, जैसे उनके शरीर का वस्त्र खींच लिया गया हो। वह परदा ही तो घर-भर की औरतों के शरीर का परदा था। उनके शरीर पर बचे चिथडे एक-तिहाई

अंग ढंकने में भी असमर्थ थे।

जाहिल भीड़ ने घृणा और शरम से आँखें फेर लीं; उस नग्नता की झलक से खान की कठोरता भी पिघल गई। ग्लानि से थूक, परदे को आँगन में वापस फेंक क्रुद्ध निराशा में उसने 'लाहौल बला…!” कहा और असफल लौट गया।

भय से चीखकर ओट में हो जाने के लिए भागती हुई औरतों पर दया कर भीड़ छंट गई। चौधरी बेसुध पड़े थे। जब उन्हें होश आया, ड्योढ़ी का परदा आंगन में सामने पड़ा था; परन्तु उसे उठाकर फिर से लटका देने की सामर्थ्य उनमें शेष न थी। शायद अब उसकी आवश्यकता भी न रही थी। परदा जिस भावना का अवलम्ब था, वह मर चुकी थी।

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

[विनोबा भावे]

आजकल खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है। अब श्रद्धा के साथ-साथ विचारपूर्वक करने का समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाए है, क्योकि उन्होने ही खादी की दर बढाई है।

सन्1030 में हमने खादी सत्रह आने गज खरीदी थी। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पडने लगी। चारो ओर 'यन्त्र-युग' होने के कारण कार्यकर्ताओ ने मिल के भाव दृष्टि में रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहा गरीबी थी उन स्थानो मे कम से कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्ति का कार्य चलाना पडा। लेनेवालो ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यम वर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योकि उसके भाव मिल के कपडे के बराबर हो गए हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और महगी भी नही। अर्थात् 'मुडमुली और घुनदुधी' इस कहावत के अनुसार खादी रूपी गाय लोगो को चाहिए थी। उन्हे वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गाधीजी ने सामने रखी है कि अब मजदूरो को अधिक मजदूरी दी जाए, उन्हे रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लालबुझक्कड की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहने मे कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए।

हम सभी माया के अन्दर ही हैं, संसार में अभी ऊब नहीं गए हैं, दुनि में अभी हमें रहना है। यदि ये विचार हमें नहीं जंचते तो यह समझ कर हम उन्हें छोड़ सकते हैं कि यह बड़ी लोगों की सनक है। सच बा तो यह है कि जब से खादी की मजदूरी बढ़ी तब से मुझमें मानो न जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित रूप कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काम में लाता हूं। कात समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करने पर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़ में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसन में कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्र में इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं—'घायल की गति घायल जाने'।[1]

मेरे हाथ के सूत की धोती पांच रुपये की हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदने को तैयार हैं। कहते हैं, "यह आपके सूत की है, इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों ? मैं मजदूरों का प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थिति में मुझे यही चिन्ता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी ! अब मेरी यह चिन्ता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालों को मालूम हो रही है।

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(1) काश्तकार, (2) दूसरे धंधे करनेवाले और (3) कुछ भी धंधा न करनेवाले जैसे बूढ़े, रोगी,

---

1. मीरा का उदाहरण

बच्चे, बेकार वगैरा। अर्थशास्त्र का—सच्चे अर्थशास्त्र का—यह नियम है कि इन तीन वर्गों में जो ईमानदार हैं उन सबको पेट-भर अन्न, वस्त्र और आश्रय की आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्व पर चलता है। जैसा कुटुम्ब में वैसा समस्त राष्ट्र में होना चाहिए। इसीका नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्र मे सब ईमानदार आदमियो के लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगो के पोषण का भार राष्ट्र के ऊपर नही हो सकता।

इग्लैंड सरीखे देशो मे (जो यन्त्र-सामग्री से सम्पन्न हैं) दूसरे देशो की सम्पत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हैं, नाना प्रकार की सुविधाए प्राप्त है, तो भी वहा बेकारी है। ऐसा क्यो ? इसका कारण है यन्त्र। इस बेकारी के कारण प्रतिवर्ष बेकारो को भिक्षा (डोल) देनी पडती है। ऐसे बीस-पच्चीस लाख बेकारो को मजदूरी न देकर अन्न देना पडता है। आप कहते हैं कि भिखारियो को काम दिए बगैर अन्न न दो, पर वहा अन्नदान का रिवाज चालू है। इन लोगो को काम दीजिए। इन्हे काम देना कर्तव्य है। 'काम दो, नही तो खाने को दो'—यह नीति इग्लैंड में है तो सारे ससार मे क्यो न हो ? यहा भी उसे लागू कीजिए। पर यहा लागू करने पर काम न देकर ढाई करोड लोगो को अन्न देना पडेगा। यहा कम से कम ढाई करोड लोग ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हू। इतने लोगो को अन्न कैसे दिया जा सकेगा ? नही दिया जा सकता—मन में ठान लिया जाए तो भी नही दिया जा सकता। उधर, चूकि इग्लैंडवाले दूसरे देशो की सपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारी से राज्य करना हो तो ऐसा करना सभव नही हो सकता।

हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहा ऐसा धधा नही जो कृषि

के साथ-साथ किया जा सके। जिस देश में केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिन्दुस्तान में तो पचहत्तर प्रतिशत से भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहां की जमीन पर कम से कम दस हजार बरस से काश्त की जाती है। अमेरिका हिन्दुस्तान से तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहां की सिर्फ बारह करोड़ है। जमीन की काश्त केवल चार सौ वर्ष पूर्व से हो रही है। इसलिए वहां की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारों के हाथ में और भी धंधे दिए जाएं तभी वह संभल सकेगा। काश्तकार यानी (1) खेती करनेवाला, (2) गो-पालन करनेवाला, और (3) बुनकर कातनेवाला—काश्तकार की यह व्याख्या की जाए तभी हिन्दुस्तान में काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश यह कि वर्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इससे दुःख नहीं, आनन्द है। खादी बीड़ी के बंडल अथवा लिप्टन की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसाने को कहें तो इसमें कितना समय लगेगा; इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माण का काम है, विध्वंस का नहीं। यह विचार अंग्रेजों के विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है; इसका दुःख नहीं, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था, तब खादी थी ही; पर उस खादी में और आज की खादी में अन्तर है। आज की खादी में जो विचार हैं, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी हैं? यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आज की खादी का अर्थ है सारे संसार में चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी के प्रवाह के ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय—जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल

समय का सहार करनेवाली मैं हू", यह वह कह सकेगी । 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्ध '—ऐसा अपना विराट रूप वह दिखलाएगी । इसलिए खादी की यदि मिल के कपडे से तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई, मर गई । इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि 'मैं मिल की तुलना मे सस्ती नही, महगी हू । मैं बडे मोल की हू । जो-जो विचारशील मनुष्य है, मैं उन्हे अलकृत करती हू । मैं सिर्फ शरीर ढापने-भर को नही आई, मैं तो आपका मन-हरण करने आई हू ।' ऐसी खादी एकाएक कैसे प्रसूत होगी ? वह धीरे-धीरे ही आगे जाएगी और जाएगी तो पक्के तौर से जाएगी । खादी के प्रचलित विचारो की विरोधिनी होने के कारण उसे पहननेवालो की गणना पागलो मे होगी ।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बनाए हैं—काश्तकार, अन्य धधा करनेवाले और जिनके पास धधा नही—उन सभी ईमानदार मनुष्यो को हमे अन्न देना है । इसे करने के लिए तीन शर्तें हैं । एक तो सर्वप्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिए । (1) खेती, (2) गो-रक्षण और (3) कातने का काम करनेवाले, ये सब काश्तकार है—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओ के विषय मे काश्तकार को स्वावलबी होना चाहिए । यह एक शर्त हुई । दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुए काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरो को महगी खरीदनी चाहिए । तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हो वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए । अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुए महगी, पर घडी, गिलास जैसी वस्तुए सस्ती होनी चाहिए । वास्तव मे दूध महगा होना चाहिए, जो है सस्ता और गिलास सस्ते होने चाहिए जो हैं महगे । यह आज की स्थिति है । आपको यह विचार रूढ करना चाहिए *कि अच्छे से अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम* दूध भी महगा होना चाहिए । इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए । खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी

हो सकेगा ? इने-गिने कुछ ही नौकरों को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है; उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्र में पचहत्तर प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुईं तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा ? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारों की चीजें महंगी और बाकी की चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की बात जानते हैं ? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया ? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें, यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रों का आविष्कार किया है न ? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारों की वस्तुएं छोड़कर बाकी की वस्तुएं आप सस्ती कीजिए। अपनी यंत्र-विद्या काश्तकारों के धंधों के अलावा दूसरे धंधों पर चलाइए और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उल्टा। काश्तकारों की वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्र की सारी वस्तुएं महंगी! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारों को एक पैसे में पांच डिबिया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांववालों को चाहिए। तो दीजिए न आध आने में महीने-भर! आप खुशी से यंत्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हू। केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यंत्रों की बनी वस्तुएं पैसे दो पैसे में मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारों से खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं; हमारे खाने के बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइए कौन-सा

काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसीलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतो के सामने यह समस्या है कि खादी महगी हुई तो क्या होगा ? पर किन का ? किसानो को खादी खरीदनी नही, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महगी नही, वह उन्हें दूसरो को महगी बेचनी है।[1]

---

[1] विनोबाजी के ये विचार तब के हैं जब महात्माजी ने कातनवालों की मजदूरी बढ़ाकर खादी महगी कर दी थी। खादी की महगी टिक गई है, दूध, अनाज (गेहू, चावल) आदि के दाम इन दिनों बेहद बढ़ गए हैं। पर मिल की बनी चीज़ें सस्ती नहीं हुई हैं।
—सम्पादक

पंच-परमेश्वर

[प्रेमचन्द]

जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन में भी साझा था। एक-दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गए थे तब अपना घर अलगू को सौंप गए थे और अलगू जब कभी बाहर जाते, तब जुम्मन पर अपना घर छोड़ जाते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता; केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूल मन्त्र भी यही है।

इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ जब दोनों मित्र बालक ही थे और जुम्मन के पूज्य पिता जुमराती उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरुजी की बहुत सेवा की—खूब रकाबियां मांजीं, खूब प्याले धोए। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था, क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आध घंटे तक किताबों से मुक्त कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। शिक्षा की अपेक्षा उन्हें गुरु की सेवा-शुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वे कहते थे कि विद्या पढने से नहीं आती, जो कुछ होता है गुरु के आशीर्वाद से होता है। बस, गुरुजी की कृपा-दृष्टि चाहिए। अतएव यदि अलगू पर जुमराती शेख के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ तो वे यह मानकर संतोष कर लेंगे कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखी, विद्या उसके भाग्य ही मे न थी तो कैसे आती? मगर जुमराती शेख स्वयं आशीर्वाद के लायक न थे। उन्हें अपने सोटे पर अधिक

भरोसा था और ऐसी सोटे के प्रताप से आज आसपास के गावो मे जुम्मन की पूजा होती थी। उनके लिखे हुए रेहननामे या बैनामे पर कचहरी का मुहर्रिर भी कलम न उठा सकता था। हल्के का डाकिया[1], कास्टेबल और तहसील का चपरासी—सब उनकी कृपा की आकाक्षा करते थे। अतएव अलगू का मान उनके धन के कारण था जो जुम्मन शेख अपने अमोल विधान से ही सबके आदर-पात्र बने थे।

जुम्मन शेख की एक बूढी खाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोडी-सी मिलकियत थी। परन्तु उसके निकट-सम्बन्धियो में कोई न था। जुम्मन ने लम्बे-चौडे वायदे करके वह मिलकियत अपने नाम चढवा ली थी। जब तक दान-पत्र की रजिस्टरी न हुई थी तब तक खालाजान का खूब आदर-सत्कार किया गया, उन्हे खूब स्वादिष्ट पदार्थ खिलाए गए। हलवे-पुलाव ही की वर्षा-सी की गई, पर रजिस्टरी की मुहर ने इन खातिरदारियों पर मानो मुहर लगा दी। जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियो के साथ कडवी बातो के कुछ तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निष्ठुर हो गए। अब बेचारी खालाजान को प्राय नित्य ही ऐसी बातें सुननी पडती थी, "बुढिया न जाने कब तक जिएगी! दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया है मानो मोल ले लिया है! बघारी दाल के बिना रोटिया नही उतरती। जितना रुपया इसके पेट मे झोक चुके, उतने से तो अब तक एक गाव मोल ले लेते।"

कुछ दिन खालाजान ने सुना और सहा, पर न सहा गया तब जुम्मन से शिकायत की। जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी—गृहस्वामिनी—के

---

[1] हल्के का डाकिया गाव का डाकिया जो सप्ताह मे एक बार डाक लाया करता है। एक डाकिया बारी-बारी से सब गावो मे जाता है। हल्क (अरबी) कुछ गावो का समूह

प्रबंध में दखल देना उचित न समझा। कुछ दिन तक और यों ही रो-धोकर काम चलता रहा। अन्त में एक दिन खाला ने जुम्मन से कहा, "बेटा, तुम्हारे साथ मेरा निर्वाह न होगा। तुम मुझे रुपया दे दिया करो, मैं अपना अलग पका-खा लूंगी।"

जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया, "रुपये क्या यहां फलते हैं?"

खाला ने नम्रता से कहा, "मुझे कुछ रूखा-सूखा चाहिए भी कि नहीं?"

जुम्मन ने गंभीर स्वर से जवाब दिया, "तो कोई यह थोड़े ही समझता है कि मौत से लड़कर आई हो!"

खाला बिगड़ गईं। उन्होंने पंचायत करने की धमकी दी। जुम्मन हंसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरन को जाल की तरफ जाते देखकर मन ही मन हंसता है। बोले, "हां, जरूर पंचायत करो। फैसला हो जाए। मुझे भी यह रात-दिन की खटपट पसन्द नहीं।"

पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी सन्देह न था। आसपास के गांवों में ऐसा कौन था जो उनके अनुग्रह का ऋणी न हो? ऐसा कौन था जो उनको शत्रु बनाने का साहस कर सके? किसमें इतना बल था जो उनका सामना कर सके? आसमान से फरिश्ते तो पंचायत करने आएंगे ही नहीं।

इसके बाद कई दिन तक बूढ़ी खाला हाथ में लकड़ी लिए आस-पास के गांवों में दौड़ती रही। कमर झुककर कमान हो गई थी। एक-एक पग चलना दूभर था। मगर बात आ पड़ी थी, उसका निर्णय कराना ज़रूरी था।

विरला ही कोई आदमी होगा जिसके सामने बुढ़िया ने दुःख के आंसू न बहाए हों। किसीने तो यों ही ऊपरी मन से हूं-हां करके टाल दिया। किसीने इस अन्याय पर ज़माने को गालियां दीं और कहा, कब्र

में पांव लटके हुए हैं, आज मरे कल दूसरा दिन हो, पर हवस नहीं मानती। अब तुम्हें क्या चाहिए? रोटी खाओ और अल्लाह का नाम लो। तुम्हें खेती-बारी से अब क्या काम! कुछ ऐसे सज्जन भी थे जिन्हें हास्य के रसास्वादन का अच्छा अवसर मिला। झुकी हुई कमर, पोपला मुंह, सन के से बाल—जब इतनी सामग्रियां एकत्र हों तब हंसी क्यों न आए? ऐसे न्यायप्रिय, दयालु, दीनवत्सल पुरुष बहुत कम थे जिन्होंने उस अबला के दुखड़े को गौर से सुना हो और उसको सांत्वना दी हो। चारों ओर से घूमघामकर बेचारी अलगू चौधरी के पास आई। लाठी पटक दी और दम लेकर बोली, "बेटा, तुम ही क्षण-भर के लिए मेरी पंचायत में चले आना।"

अलगू—मुझे बुलाकर क्या करोगी! कई गांवों के आदमी तो आवेंगे ही।

खाला—अपनी विपद तो सबके आगे रो आई हूं; आने न आने का अख्तियार उनको है।

अलगू—यों आने को मैं आ जाऊंगा, मगर पंचायत में मुंह न खोलूंगा।

खाला—क्यों बेटा?

अलगू—अब इसका क्या जवाब दूं? अपनी खुशी। जुम्मन मेरे पुराने मित्र है। उनसे बिगाड़ नही कर सकता।

खाला—बेटा, क्या बिगाड के भय से ईमान की बात न कहोगे?

हमारे सोए हुए धर्म-ज्ञान की सारी सम्पत्ति लुट जाए तो उसे खबर नहीं होती, परन्तु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नही सकता। अलगू इस सवाल का कोई जवाब न दे सके। पर उनके हृदय मे शब्द गूज रहे थे, 'क्या बिगाड़ के भय से ईमान की बात न कहोगे?'

संध्या-समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले ही से फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। हां, वे स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ ज़रा दूर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता था तब दबे हुए सलाम से उसका शुभागमन करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरवयुक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब वहां भी पंचायत आरम्भ हुई। फर्श की एक-एक अंगुल ज़मीन भर गई, पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में से केवल वही लोग पधारे थे जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआं निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौच करते और कोई रोते थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। गांव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुण्ड के झुण्ड जमा हो गए थे।

पंच लोग बैठ गए तो बूढ़ी खाला ने उनसे विनती की, "पंचो, आज तीन साल हुए मैंने अपनी सारी जायदाद अपने भानजे के नाम लिख दी थी। इसे आप लोग जानते ही होंगे। जुम्मन ने मुझे हीनहयात[1] रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था। साल-भर तो मैंने इसके साथ रो-धोकर काटे, पर अब रात-दिन का रोना नही सहा जाता। मुझे न पेट-भर रोटी मिलती है और न तन का कपड़ा। बेकस बेवा हूं। कचहरी-दरबार कर नही सकती। तुम्हारे सिवाय और किसे अपना दुख सुनाऊं? तुम लोग जो राह निकाल दो उसी राह पर चलूं; अगर मुझमें कोई ऐब देखो, मेरे मुह पर थप्पड़ मारो। जुम्मन में बुराई देखो तो उसे समझाओ। क्यों एक बेकस की आह लेता है? पचों का हुक्म सर-माथे पर चढ़ाऊंगी।"

---

[1] ज़िन्दगी-भर

रामधन मिश्र, जिनके कई असामियों को जुम्मन ने अपने गांव में बसा लिया था, बोले, "जुम्मन मियां ! किसे पच बदते हो ? अभी से इसका निबटारा कर लो। फिर जो कुछ पंच कहेंगे वही मानना पड़ेगा।"

जुम्मन को इस समय सदस्यों में विशेषकर यही लोग दीख पड़े जिनसे किसी न किसी कारण उनका वैमनस्य था। जुम्मन बोले, "पंचों का हुक्म अल्लाह का हुक्म है। खालाजान जिसे चाहें बदें, मुझे कोई उज्र नहीं।"

खाला ने चिल्लाकर कहा, "अरे अल्लाह के बंदे ! पंचों के नाम क्यों नहीं बता देता ? कुछ मुझे भी तो मालूम हो !"

जुम्मन ने क्रोध से कहा, "अब इस वक्त मेरा मुह न खुलवाओ। तुम्हारी बन पड़ी है, जिसे चाहो पच बदो।"

खालाजान जुम्मन के आक्षेप को समझ गईं। वे बोलीं, "बेटा ! खुदा से डरो। पंच न किसीके दोस्त होते हैं न किसीके दुश्मन। कैसी बात कहते हो ? और तुम्हारा किसीपर विश्वास न हो तो जाने दो, अलगू चौधरी को तो मानते हो ? लो, मैं उन्हींको सरपंच बदती हू।"

जुम्मन शेख आनन्द से फूल उठे, पर भावों को छिपाकर बोले, "अलगू चौधरी ही सही। मेरे लिए जैसे रामधन मिश्र वैसे अलगू।"

अलगू इस झमेले में फसना नहीं चाहते थे। वे कन्नी काटने लगे। बोले, "खाला, तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है।"

खाला ने गम्भीर स्वर से कहा, "बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पच के दिल में खुदा बसता है। पचों के मुह से जो बात निकलती है वह खुदा की तरफ से निकलती है।"

अलगू चौधरी सरपच हुए। रामधन मिश्र और जुम्मन के दूसरे विरोधियों ने बुढ़िया को बहुत कोसा।

अलगू चौधरी बोले, "जुम्मन शेख ! हम और तुम पुराने दोस्त है। जब काम पड़ा है, तुमने हमारी मदद की है और हम भी जो कुछ

बन पड़ा तुम्हारी सेवा करते रहे हैं। मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला दोनों हमारी निगाह में बराबर हो। तुमको पंचों से जो कुछ अर्ज़ करना हो, करो।"

जुम्मन को पूरा विश्वास था कि अब बाज़ी मेरी है। अलगू यह सब दिखावे की बातें कर रहा है; अतएव शान्तचित्त होकर बोले, "पंचो! तीन साल हुए, खालाजान ने अपनी जायदाद मेरे नाम हिब्बा कर दी थी।[1] मैंने उन्हें हीन-हयात खाना, कपड़ा देना कबूल किया था।[2] खुदा गवाह है कि आज तक मैंने खालाजान को कोई तकलीफ नहीं दी। मैं उन्हें अपनी मां के समान समझता हूं, उनकी ख़िदमत करना मेरा फ़र्ज़ है। मगर औरतों में ज़रा अनबन रहती है। इसमें मेरा क्या बस है? खालाजान मुझसे माहवार खर्च अलग मांगती हैं। जायदाद जितनी है वह पंचों से छिपी नही है। उससे इतना मुनाफ़ा नहीं होता कि मैं माहवार खर्च दे सकूं। इसके अलावा हिब्बानामे में माहवार खर्च का कोई ज़िक्र नहीं, नही तो मैं भूलकर भी इस झमेले में न पड़ता। बस, मुझे यही कहना है। आइन्दा पंचों को अख्तियार है, जो फैसला चाहें करें।"

अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था, अतएव पूरा कानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से जिरह करनी आरम्भ की। एक-एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़ी की चोट की तरह पड़ता था। रामधन मिश्र इन प्रश्नों पर मुग्ध हो जाते थे। जुम्मन चकित था कि अलगू को क्या हो गया है? अभी यह मेरे साथ बैठा हुआ कैसी-कैसी बातें कर रहा था! इतनी ही देर में ऐसी काया-पलट हो गई कि मेरी जड़ खोदने पर तुला हुआ है। न मालूम कब की कसर यह निकाल रहा है! क्या इतने दिनों की दोस्ती कुछ भी काम न आएगी?

जुम्मन शेख इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि इतने में अलगू

---

1. हिब्बा कर दी थी—दान में दी थी; (हिब्बानामा : दान-पत्र)
2. कबूल किया था—मान लिया था

ने फैसला सुनाया, "जुम्मन शेख! पंचो ने इस मामले पर विचार किया। उन्हें यह नीति-सगत मालूम होता है कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाए। हमारा विचार है कि खाला की जायदाद से इतना मुनाफा अवश्य होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके। बस, यही हमारा फैसला है। अगर जुम्मन को खर्च देना मजूर न हो तो हिब्बानामा रद्द समझा जाए।"

यह फैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे मे आ गए। जो अपना मित्र हो वह शत्रु का-सा व्यवहार करे और गले पर छुरी फेरे! इसे समय के हेर-फेर के सिवाय और क्या कहें! जिसपर पूरा भरोसा था, उसने समय पड़ने पर धोखा दिया। ऐसे ही अवसरो पर झूठे-सच्चे मित्रो की परीक्षा की जाती है। यही कलयुग की दोस्ती है। अगर लोग ऐसे कपटी और धोखेबाज न होते तो देश मे आपत्तियो का प्रकोप क्यो होता? यह हैजा, प्लेग आदि व्याधिया दुष्कर्मों के ही दड हैं।

मगर रामधन मिश्र और अन्य पच अलगू चौधरी की नीति-परायणता की प्रशसा जी खोलकर कर रहे थे। वे कहते थे—इसीका नाम पचायत है! दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। दोस्ती दोस्ती की जगह है, किन्तु धर्म का पालन करना मुख्य है। ऐसे ही सत्यवादियो के बल पृथ्वी ठहरी है, नहीं तो वह कब की रसातल[1] को चली जाती।

इस फैसले ने अलगू और जुम्मन की दोस्ती की जड़ हिला दी। अब वे साथ-साथ बातें करते नहीं दिखाई देते। इतना पुराना मित्रता-रूपी वृक्ष सत्य का एक हलका झोंका भी न सह सका। सचमुच वह बालू ही की जमीन पर खड़ा था।

उनमें अब शिष्टाचार का अधिक व्यवहार होने लगा। एक-दूसरे

---

[1] पाताल

की आवभगत ज्यादा करने लगे। वे मिलते-जुलते थे, मगर उसी तरह जैसे तलवार से ढाल मिलती है।

जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठों पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यही चिन्ता रहती कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।

अच्छे कामों की सिद्धि में बड़ी देर लगती है, पर बुरे कामों की सिद्धि में यह बात नहीं। जुम्मन को भी बदला लेने का अवसर जल्दी मिल गया। पिछले साल अलगू बटेसर[1] से बैलों की एक बहुत अच्छी जोड़ी मोल ले आए थे। बैल पछाही जाति के सुन्दर, बड़े-बड़े सींगोंवाले थे। महीनों तक आस-पास के गांवों के लोग उनके दर्शन करते रहे। दैवयोग से जुम्मन की पंचायत के एक महीने बाद इस जोड़ी का एक बैल मर गया। जुम्मन ने दोस्तों से कहा, "यह दगाबाजी की सज़ा है। इंसान सब्र भले ही कर जाए। पर खुदा नेक-बद सब देखता है।" अलगू को सन्देह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दे दिया है। चौधराइन[2] ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोपण किया। उसने कहा, "जुम्मन ने कुछ कर-करा दिया है।" चौधराइन और करीमन में इस विषय पर एक दिन खूब ही वाद-विवाद हुआ। दोनों देवियों ने शब्द-बाहुल्य की नदी बहा दी। व्यंग्य, वक्रोक्ति, अत्युक्ति और उपमा आदि अलंकारों में बातें हुईं। जुम्मन ने किसी तरह शांति स्थापित की। उसने अपनी पत्नी को डांट-डपटकर समझा दिया। वे उसे रणभूमि से भी हटा ले गए। इधर अलगू चौधरी ने समझाने-बुझाने का काम अपने तर्कपूर्ण सोटे से लिया।

अब अकेला बैल किस काम का? उसका जोड़ा बहुत ढूंढ़ा गया, पर न मिला। निदान यह सलाह ठहरी कि इसे बेच डालना चाहिए।

---

1. बटेसर बनारस से पछांह मे पड़ता है। (स्थान का नाम)

2. चौधराइन—(अलगू) चौधरी की पत्नी

गाव मे एक समझू साहु थे। इक्का-गाडी हाकते थे। गाव से गुड, घी लादकर वे मडी को जाते, मडी से तेल, नमक भर लाते और गाव मे बेचते। इस बैल पर उनका मन लहराया। उन्होने सोचा, यह बैल हाथ लगे तो दिन-भर बेखटके तीन खेपें हो। आजकल तो एक ही खेप के लाले पडे रहते हैं। बैल देखा, गाडी में दौडाया, बाल-भौरी की पहचान कराई, मोल-तोल किया और उसे लाकर द्वार पर बाध ही दिया। एक महीने मे दाम चुकाने का वादा ठहरा। चौधरी को भी गरज थी ही[1], घाटे की परवाह न की।

समझू साहु ने नया बैल पाया तो लगे रगेदने[2]। दिन मे तीन-तीन, चार-चार खेपें करने लगे। न चारे की फिक्र थी न पानी की, बस खेपो से काम था। मण्डी ले गए, वहा कुछ सूखा भूसा सामने डाल दिया। बेचारा जानवर अभी दम भी न लेने पाया कि फिर जोत दिया। अलगू चौधरी के घर थ, तो चैन की बंशी बजती थी[3]। छठे-छमासे कभी बहली[4] मे जोते जाते, तब खूब उछलते-कूदते और कोसो तक दौडते जाते थे। वहा बैलराम को रातिब[5], साफ पानी, दली हुई अरहर की दाल और भूसे के साथ खली और यही नही, कभी-कभी घी का स्वाद भी चखने को मिल जाता था। शाम-सवेरे एक आदमी खरहरे करता, पोछता और सहालता था। कहा वह सुख चैन, कहा यह आठो पहर की खपन। महीने-भर म ही वह पिस-सा गया। इक्के का जुआ देखते ही उसका लोहू सूख जाता था। एक-एक पग चलना दूभर था। हड्डिया निकल आई थी, पर था वह पानीदार, मार की सहन[6] न थी।

एक दिन चौथी खेप मे साहुजी ने दूना बोझ लादा। दिन-भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उसपर साहुजी कोडे फटकारने लगे।

---

[1] गरज थी ही—पैसे की जरूरत थी ही

[2] कसकर काम लेने [3] आराम से दिन कटते [4] एक प्रकार की बैलगाडी

[5] रातिब—पशुओ का भोजन [6] सहन—बरदाश्त

बस फिर क्या था, बैल कलेजा तोड़कर चला। वह कुछ दूर दौड़ा और चाहा कि जरा दम ले लूं। पर साहुजी को जल्द घर पहुंचने की फिक्र थी। अतएव उन्होंने कई कोड़े बड़ी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर जोर लगाया। पर अब की बार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह धरती पर गिर पड़ा और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहुजी ने बहुत पीटा, टांग पकड़कर खींची, नथुनों में लकड़ी ठूंस दी। पर कहीं मृतक भी उठ सकता है? तब साहुजी को कुछ शंका हुई। उन्होंने बैल को गौर से देखा, खोलकर अलग किया और सोचने लगे कि गाड़ी कैसे घर पहुंचे। वे बहुत चीखे-चिल्लाए, पर देहात का रास्ता बच्चों की आंखों की तरह सांझ होते ही बंद हो जाता है, कोई नजर न आया। आस-पास कोई गांव भी न था। मारे क्रोध के उन्होंने मरे हुए बैल पर और दुर्रे लगाए[1] और कोसने लगे, "अभागे! तुझे मरना ही था तो घर पहुंचकर मरता। ससुरा बीच रास्ते में ही मर रहा। अब गाड़ी कौन खींचे?" इस तरह साहुजी खूब जले-भुने। कई बोरे गुड़ और कई पीपे घी उन्होंने बेचे थे। दो-ढाई सौ रुपये कमर में बंधे थे। इसके सिवाय गाड़ी पर कई बोरे नमक के थे। अतएव छोड़कर जा भी न सकते थे। लाचार बेचारे गाड़ी पर ही लेट गए। वहीं रतजगा करने की ठान ली, चिलम पी, गाया, फिर हुक्का पीया। इस तरह साहुजी आधी रात तक नीद को बहलाते रहे। अपनी जान में तो वे जागते ही रहे, पर पौ फटते ही जो नीद खुली और कमर पर हाथ गया तो थैली गायब। घबराकर इधर-उधर देखा तो कई कनस्तर तेल भी नदारद। अफसोस में बेचारे सिर पीटने लगे और पछाड़ खाने लगे। प्रातःकाल रोते-बिलखते घर पहुंचे। सहुआइन ने जब यह बुरी सुनावनी सुनी तब पहले रोई, फिर अलगू चौधरी को गालियां देने लगी, निगोड़े ने

---

[1] दुर्रे लगाए—कोड़े लगाए; दुर्रा (फारसी) कोड़ा, चाबुक

ऐसा कुलच्छना बैल दिया कि जन्म-भर की कमाई लुट गई।

इस घटना को हुए कई वर्ष बीत गए। अलगू जब अपने बैल के दाम मांगते तब साहु और सहुआइन दोनों ही झल्लाए हुए कुत्तों की तरह चढ़ बैठते और अण्ड-बण्ड बकने लगते, "वाह! यहां तो सारे जन्म की कमाई लुट गई, सत्यानाश हो गया। इन्हें दामों की पड़ी है! मुर्दा बैल दिया था, उसपर दाम मांगने चले हैं! आंखों में धूल झोंक दी, सत्यानासी बैल गले बांध दिया, हमें निरा पोगा[1] ही समझ लिया। हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कहीं और होंगे। पहले जाकर किसी गड़हे में मुह धो आओ तब दाम लेना, जी न मानता हो तो हमारा बैल खोल ले जाओ, महीना-भर के बदले दो महीने जोत लो। रुपया क्या लोगे?"

चौधरी के अशुभचिन्तकों की कमी न थी। ऐसे अवसरों पर वे भी एकत्र हो जाते और साहु के बर्राने की पुष्टि करते। इस तरह फटकारें सुनकर बेचारे चौधरी अपना-सा मुह लेकर लौट आते। परन्तु डेढ़ सौ रुपये से इस तरह हाथ धो लेना आसान न था। एक बार वे भी गरम हो पड़े। साहुजी बिगड़कर लाठी ढूंढने घर चले गए। अब सहुआइनजी ने मैदान लिया। प्रश्नोत्तर होते-होते हाथा-पाई की नौबत आई। सहुआइन ने घर में घुसकर किवाड़ बन्द कर लिए। शोर-गुल सुनकर गांव के भलेमानुस जमा हो गए। उन्होंने दोनों को समझाया। साहुजी को दिलासा देकर घर से निकाला। वे परामर्श देने लगे कि इस तरह सिर-फुड़ौवल से काम न चलेगा। पंचायत करा लो। जो कुछ तै हो जाए उसे स्वीकार कर लो। साहुजी राजी हो गए। अलगू ने भी हामी भर ली।

पंचायत की तैयारियां होने लगी। दोनों पक्षों ने अपने-अपने दल बनाने शुरू किए। इसके बाद फिर उसी वृक्ष के नीचे पंचायत बैठी।

---

[1] पोगा—नासमझ, मूर्ख

यही संध्या का समय था। खेतों में कौवे पंचायत कर रहे थे। विवाद-ग्रस्त विषय यह था कि मटरों की फलियों पर उनका स्वत्व है या नही। और जब तक यह प्रश्न हल न हो जाए तब तक वे रखवाले की पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुकमंडली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्य को उन्हें बेमुरव्वत[1] कहने का क्या अधिकार है जब उसे स्वयं अपने मित्रों को भी दगा देने में संकोच नहीं होता।

पंचायत बैठ गई तो रामधन मिश्र ने कहा, "अब देरी क्यों ? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी, किस-किसको पंच बदते हो ?"

अलगू ने दीनभाव से कहा, "समझू साहु ही चुन लें।"

समझू खड़े हुए और कड़ककर बोले, "मेरी ओर से जुम्मन शेख।"

जुम्मन शेख का नाम सुनते ही अलगू चौधरी का कलेजा धक्धक् करने लगा। मानों किसीने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के मित्र थे। वे बात को ताड़ गए। पूछा, "क्यों चौधरी, तुम्हें कोई उज्र तो नही ?"

चौधरी ने निराश होकर कहा, "नही, मुझे क्या उज्र होगा !"

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुलित व्यवहारों का सुधार होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथप्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-सम्पादक अपनी शांति-कुटीर में बैठा हुआ कितनी धृष्टता और स्वतन्त्रता के साथ अपनी प्रबल लेखनी से मन्त्रिमण्डल पर आक्रमण करता है, परन्तु ऐसे अवसर भी आते हैं जब वह स्वयं मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होता है। मण्डल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ, कितनी विचारशील, कितनी न्यायपरायण हो जाती है,

---

1. दुःशील

इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है। नवयुवक युवावस्था में कितना उद्दण्ड रहता है! माता-पिता उसकी ओर से कितने चिन्तित रहते हैं! वे उसे कुल-कलंक समझते हैं, परन्तु थोड़े ही समय में परिवार का बोझ सिर पर पड़ते ही वही अव्यवस्थितचित्त उन्मत्त युवक कितना धैर्यशील, कैसा शान्तचित्त हो जाता है—यह भी उत्तरदायित्व के ज्ञान का ही फल है।

जुम्मन शेख के मन में भी सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करके अपनी जिम्मेदारी का भाव पैदा हुआ। उसने सोचा, 'मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हू। मेरे मुह से इस समय जो कुछ भी निकलेगा वह देववाणी के सदृश है—और देववाणी में मेरे मनोविकारो का कदापि समावेश न होना चाहिए। मुझे सत्य से जौ-भर टलना उचित नहीं।'

पंचों ने दोनों पक्षों से सवाल-जवाब करने शुरू किए। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। इस विषय में तो सब सहमत थे कि समझू को बैल का मूल्य देना चाहिए, परन्तु दो महाशय इस कारण रियायत करना चाहते थे कि बैल के मर जाने से समझू की हानि हुई। इसके प्रतिकूल दो सभ्य मूल्य के अतिरिक्त समझू को कुछ दंड भी देना चाहते थे, जिससे फिर किसीको पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता करने का साहस न हो। अन्त में जुम्मन ने फैसला सुनाया, "अलगू चौधरी और समझू साहु! पंचों ने तुम्हारे मामले पर अच्छी तरह विचार किया। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दे। जिस वक्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिया जाता तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण से हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम कराया गया और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं किया गया।"

रामधन मिश्र बोले, "समझू ने बैल को जानबूझकर मारा है अतएव उनसे दंड लेना चाहिए।"

जुम्मन बोले, "यह दूसरा सवाल है। हमको इससे कोई मतलब नहीं।"

झगड़ू साहु ने कहा, "समझू के साथ कुछ रियायत होनी चाहिए।"

जुम्मन बोले, "यह अलगू चौधरी की इच्छा पर है। वे रियायत करें तो उनकी भलमनसी है।"

अलगू चौधरी फूले न समाए। उठ खड़े हुए और जोर से बोले, "पंच-परमेश्वर की जय !"

चारों ओर प्रतिध्वनि हुई, "पंचपरमेश्वर की जय !"

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता था, "इसे कहते हैं न्याय। यह मनुष्य का काम नहीं, पंच में परमेश्वर वास करते हैं। यह उन्हींकी महिमा है। पंच के सामने खोटे को कौन खरा कह सकता है!"

थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आए और उसके गले लिपटकर बोले, "भैया ! जब तुमने मेरी पंचायत की, तब से मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था, पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसीका दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।"

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझाई लता फिर से हरी हो गई।

बापू की देन

[डा० राजेन्द्रप्रसाद]

भारतीय राजनीति मे बापू की देन महान है। जब वे दक्षिण अफ्रीका से 1915 ई० मे अन्तिम रूप से स्वदेश लौट आए, तब भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) को स्थापित हुए तीस वर्ष हो चुके थे। काग्रेस ने एक हद तक राष्ट्रीय भावना जागरित और सगठित कर दी थी; लेकिन यह जागरण मोटे रूप से केवल अग्रेजी पढे-लिखे मध्यवर्गीय लोगो तक ही सीमित था। जनता मे उसने प्रवेश अभी नही पाया था। जनता तक उसे महात्मा गाधी ले गए और उसे जन-आदोलन का स्वरूप दे दिया। महात्मा गाधी का आदोलन जहा कि व्यापक था वहा वह गहरा भी था। उन्होने वे कार्य-योजनाए हाथ मे ली जो नितात राजनीतिक नही, बल्कि जनता के एक बडे हिस्से के जीवन मे बहुत घुली-मिली थी। एक शताब्दी या इससे अधिक काल से जनता गोरो के लाभ के लिए जबरन नील पैदा करने की अन्यायपूर्ण प्रणाली से कष्ट उठाती आ रही थी। निलहे खेतिहरो और मजदूरो की ओर से चपारन में किए गए उनके सफल सत्याग्रह से काग्रेस की हलचल एकदम जन-आदोलन की सीमा तक जा पहुची। अन्याय समझे जानेवाले लगान-बन्दी के हुक्म की दुबारा जाच करने के लिए किए गए खेडा के उनके उतने ही सफल सत्याग्रह ने भी उस ज़िले की जनता पर वैसा ही असर डाला। अब काग्रेस की राजनीति, देश की ऊची-ऊची पब्लिक सर्विसो मे अधिक हिस्सा या गवर्नरो की शासन-समितियो में ज्यादा जगह दिए

जाने की मांगों तक ही सीमित नहीं रह गई। अब वह थकी-मांदी जनता की तकलीफों से अभिन्न होकर ही नहीं रही, बल्कि उनको दूर कराने में भी सफल हो सकी। इन सब प्रारम्भिक (1917 और 1918 के) आंदोलनों को लेकर अब तक आंदोलन ऐसे चले हैं और उन सबमें ध्येय यही रहा है कि किसी एक श्रेणी या समूह को ही न पहुंचकर व्यापक रूप से समस्त जनता को उसका फायदा पहुंचे। कष्ट-निवारण के लिए सिर्फ ब्रिटिश हितों अथवा ब्रिटिश सल्तनत के ही ख़िलाफ लड़ाई नहीं छेड़ी गई, बल्कि उन्होंने बिना हिचकिचाहट के भारतीय हितों और गलत धारणाओं को भी उतनी ही ताकत से धक्का पहुंचाया है। इस प्रकार उनकी जागरित आंखों से भारतीय कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की असन्तोषप्रद हालत छिपी नहीं रह सकी और सबसे पहले जो काम उन्होंने उठाए, उनमें से एक अपने लिए अच्छी स्थिति प्राप्त करने के वास्ते लड़ने में अहमदाबाद के मज़दूरों को मदद करना भी था। दलित जातियों की दुःख-भरी किस्मत ने अनिवार्य रूप से हिन्दुओं की अस्पृश्यता-जैसी दूषित और दुष्टतापूर्ण प्रथा को निष्ठुरता-पूर्वक मिटा डालने के आंदोलन को जन्म दिया और महात्मा गांधी ने अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा-लगाकर उसका संचालन किया। कांग्रेस-संगठन का विस्तार भी इतना हुआ कि इस विशाल देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक वह व्याप्त हो गया और आज लाखों स्त्री-पुरुष उनके सदस्य हैं। लेकिन संख्या-मात्र जितना बता सकती है उससे कहीं अधिक व्यापक कांग्रेस का प्रभाव हुआ है। उस प्रभाव की गहराई की परीक्षा इससे हो चुकी है कि जनता उसके आमन्त्रण पर त्याग और कष्ट-सहन की भीषण आंच में से निकल सकी है।

परन्तु महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन यह नहीं है कि भारत की जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी और उसे एक अभूतपूर्व पैमाने पर संगठित किया। मेरी समझ में तो, भारत की राजनीति को

और सम्भवतः संसार को पीड़ित मानव-जाति को उन्होंने जो सबसे बड़ी चीज़ दी है, वह है बुराइयों से लड़ने का वह बेजोड़ तरीका, जिसे उन्होने प्रचलित और कार्यान्वित किया। उन्होने हमे सिखाया है कि बिना हथियार के शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से सफलता के साथ किस प्रकार लड़ा जा सकता है। उन्होने हम और ससार को युद्ध का नैतिक स्थान ग्रहण कर सकनेवाली वस्तु दी है। उन्होने राजनीति को जो कि धोखेधड़ी और असत्य से भरी हुई थी, जो गिरी से गिरी हालत मे नीच षड्यन्त्रो की स्थिति मे पहुच गई थी और ऊची से ऊची स्थिति मे कूटनीतिपूर्ण दुमानी गोल-मोल भाषा और गुप्त चालो से ऊची न उठ सकती थी, ऊपर उठाकर एक ऐसे ऊचे आदर्श पर पहुचा दिया है, जिसमे कि कितने ऊचे उद्देश्यो के लिए, किसी स्थिति मे भी, दोषपूर्ण और अपवित्र साधनो का उपयोग नही किया जा सकता। उन्होने राजनीति मे भी सचाई को गौरव के उच्च मच पर आसीन किया है, फिर चाहे उसका तात्कालिक[1] परिणाम कितना ही हानिप्रद क्यो न लगता हो। हमारी कमजोरियो और बुराइयो को भी स्पष्ट रूप से जान-बूझकर तथाकथित[2] शत्रुओ के सामने खोलकर रख देने की उनकी आदत ने पक्षियो और विपक्षियो दोनो को हैरान कर दिया है। लेकिन उनके मन में हमारी शक्ति अपनी कमजोरियो को छिपाने मे नही, बल्कि उन्हे समझकर उनसे लड़ने मे निहित है। यह बात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि जहा अहिंसा की थोड़ी-सी अवहेलना या अपूर्णता भले ही अस्थायी लाभ ला सके, वहा भी अहिंसा का कठोर पालन सबसे सीधा रास्ता ही नही है, वरन् सबसे अधिक चतुराई की नीति भी है। उनकी शिक्षाओ के भीतर नैतिक और आध्यात्मिक स्फूर्ति थी, जिसने लोगो की कल्पना को प्रभावित किया। लोगो ने देखा और समझ लिया कि

---

[1] उस समय का [2] So-Called

जब चारों ओर घना अंधकार है, ऐसी स्थिति में हमारी गरीबी और गुलामी में से छुटकारे का रास्ता दिखलानेवाले वही हैं। जब हम अपनी निपट बेबसी महसूस कर रहे थे तब उन्होंने सत्य और अहिसा के द्वारा अपनी शक्ति को पहचानने की हमें प्रेरणा दी। मनुष्य आखिर अस्त्र और शस्त्र के साथ नहीं जन्मा। न उसके चीते के से पंजे ही हैं और न जंगली भैंसे के से सींग। यह तो आत्मा और भावना को लेकर उत्पन्न हुआ है। फिर वह अपनी रक्षा और उन्नति के लिए इन बाहरी वस्तुओं पर क्यों अवलम्बित रहे? महात्मा गांधी ने हमें सिखाया है कि अगर हम मौत और विनाश पर भरोसा रखेंगे तो वे हमारी बाट देखते रहेंगे। उन्होंने हमे सिखाया है कि अगर हम अपनी अन्तरात्मा को जागरित कर लें तो जीवन और स्वतन्त्रता हमारे होकर रहेंगे। दुनिया में कोई ताकत ऐसी नहीं है कि एक बार उस अन्तरात्मा के जाग पड़ने पर, एक बार इन बाह्य वस्तुओं और परिस्थितियों का अवलम्बन छोड़ देने पर और एक बार आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने पर वह हमें गुलामी में रख सके। भारत शनैः-शनैः किन्तु उतनी ही दृढ़ता और निश्चय के साथ आत्मिक बल को प्राप्त कर रहा है और उस आत्मिक बल के साथ अदम्य भी बनता जा रहा है। परमात्मा करे कि वह सत्य और अहिसा के इस सकरे, किन्तु सीधे मार्ग से विचलित न हो, जो उसने महात्मा गांधी के नेतृत्व में चुन लिया है। यही है महात्माजी का भारतीय राजनीति पर सबसे बड़ा ऋण, और यही होगी दुनिया की मुक्ति में भारत की एक अमर देन।

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

[प्रो० रामकुमार वर्मा]

पात्र-सूची

समुद्रगुप्त—पाटलिपुत्र के सम्राट
धवलकीर्ति—सिंहल के राजदूत
मणिभद्र—भांडागार के अधिकरण
कोदण्ड—महाबलाध्यक्ष
घटोत्कच, वीरबाहु—भगवान बुद्धदेव की प्रतिमा निर्माण करनेवाले शिल्पी
प्रियदर्शिका—सम्राट समुद्रगुप्त की वीणावाहिनी
रत्नप्रभा—राजनर्तकी
प्रहरी

स्थान—पाटलिपुत्र] [काल—420 वि०

[भांडागार का बाहरी कक्ष। दीवालों पर अनेक नृत्यमुद्राओं में नर्तकियों के चित्र हैं। स्फटिक पत्थरों के स्तम्भों पर दीपों का आलोक हो रहा है। पीछे लौह-दण्डों से बना हुआ परिवेष्टन है।

मंच के बीच में समुद्रगुप्त खड़े हुए हैं। शरीर पर श्वेत और पीत परिधान, रत्नजटित शिरोभूषण, केश उन्मुक्त, पुष्ट वक्षस्थल जिसपर रत्नों के हार। कटिबन्ध में खड्ग। मुद्रा गम्भीर।

उनके दाहिनी ओर सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति और राज्य के महाबलाध्यक्ष कोदण्ड हैं और भांडागार के अधिकरण मणिभद्र हैं। धवलकीर्ति का पीत, मणिभद्र का श्वेत और कोदण्ड का नील परिधान है। कोदण्ड सैनिक

वेश में हैं। द्वार पर शस्त्र लिए हुए प्रहरी। समुद्रगुप्त धवलकीर्ति को संबोधन करते हुए कहते हैं।]

समुद्रगुप्त—तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं।

धवलकीर्ति—यह तो आपने स्वयं देखा सम्राट ! किन्तु भांडागार से इस तरह चोरी हो जाना आश्चर्यजनक है। भांडागार के अधिकारण स्वयं कुछ नहीं कर सकते।

समुद्रगुप्त—(तीव्र स्वर से) क्यों नहीं कर सकते ? (मणिभद्र से) मणिभद्र, वे रत्न कैसे चोरी चले गए ? आज तुम्हारा वह विश्वास कहां है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी ? वह विश्वास कहा है जिसमें मैंने कोसल, कांची और देवराष्ट्र की सपत्ति सौंपी थी ? वह विश्वास कहां है जिसमें लिच्छवि-वंश का गौरव निवास करता है ? क्या उस विश्वास मे विष प्रवेश कर गया ? बड़ी से बड़ी संपत्ति की रक्षा करने का अनुभव लेकर भी तुम दो हीरक खडों की रक्षा नहीं कर सके ? तुमने मेरे विश्वास मे इन रत्नों को केवल दो चिनगारियों से आग लगा दी। तुम्हारे ये श्रम-बिंदु यदि रत्न-बिंदु बन जाते ''! (कटु दृष्टि से)

मणिभद्र—सम्राट, अच्छा होता यदि मेरे प्रत्येक रोम से रक्त-बिन्दु निकलकर आपके चरणों पर गिरकर कह सकते कि मैं निर्दोष हूं। यदि रक्त-बिन्दु वाणीरहित हैं आप उन्हें दूसरी भाषा दीजिए; किन्तु आपके विश्वास की पवित्रता खोकर मैं जीवन की रक्षा नहीं चाहता।

धवलकीर्ति—सम्राट, आपका विश्वास खोकर कौन अपने जीवन की रक्षा करना चाहेगा ? किन्तु मणिभद्र की संरक्षा से रत्नों की चोरी जाना आश्चर्यजनक है।

मणिभद्र—यह आश्चर्य ही मेरे लिए मृत्यु-पीड़ा का दर्शन है। सम्राट ने जिस विश्वास से मुझे अश्वमेध यज्ञ की संचित निधि सौंपी थी उसी विश्वास की पवित्रता से मैंने उन रत्नों की संरक्षा की थी, फिर भी प्रातःकाल वे राज्य-भांडागार में नहीं पाए गए।

समुद्रगुप्त—आश्चर्य से अपराध छिपाया जा सकता है धवलकीर्ति ! अपराध की सहस्र जिह्वाएं हैं जो अग्नि-शिखा की भांति चंचल हो सकती हैं और (मणिभद्र से) तुम यह जानते हो मणिभद्र, कि भांडागार की रक्षा क्या है ? वह कृपाण के दर्पण में बंद की हुई छाया है, जो कृपाण से मुक्त नहीं की जा सकती।

मणिभद्र—सम्राट ! मैं अपनी मृत्यु हाथ में लेकर आया हूं। रत्नों का खो जाना ही मेरे लिए सबसे बड़ा अपराध है। मुझे केवल अपने भाग्य-दोष का दुःख है। यश और कीर्ति के साथ सम्राट की सेवा पच्चीस वर्षों तक करने के अनन्तर इस भांति अपयश से मेरे जीवन का अंत हो ! मैं आपसे अपनी मृत्यु मांगने आया हूं, सम्राट !

समुद्रगुप्त—मुझसे अपनी मृत्यु मांगने की भी आवश्यकता है ?

मणिभद्र—सत्य है, सम्राट ! मैं अभी तक अपने जीवन की समाप्ति कर चुका होता, किन्तु आपके समक्ष अपनी आत्मा की पवित्रता के दो शब्द कहे बिना मुझे परितोष नहीं होता। आप मेरे चरित्र के संबंध में अनेक बातें सोच सकते थे। अब मुझे संतोष है, मैंने अपनी आत्मा की पुकार आप तक पहुंचा दी। अब मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—मणिभद्र ! अभी तुम नहीं जा सकोगे। तुम्हारे उत्तरदायित्व के साथ राज्य का भी उत्तरदायित्व है। यदि तुम्हारे अधिकार में सुरक्षित की गई अश्वमेध यज्ञ की सारी संपत्ति भी नष्ट हो जाती तो मुझे इतना दुःख न होता जितना इन दो रत्न-खंडों की चोरी से हुआ है। इन रत्नों के साथ जैसे मेरे हृदय की शांति

और पवित्रता भी खो गई है।

धवलकीर्ति—सम्राट! उन रत्नों का सम्बन्ध भी पवित्रता से ही था। वे सिंहल की राजमहिषी के कंठहार के प्रधान रत्न थे जो भगवान बुद्धदेव की प्रतिमा के लिए विश्वास से आपकी सेवा में भेजे गए थे।

समुद्रगुप्त—(आश्चर्य से) राजमहिषी के कंठहार के?

धवलकीर्ति—हां सम्राट! मैं ही राजदूत बनकर सिंहल से यह सम्पत्ति लाया हूं। जब सिंहल के महासामंत सिरिमेघ रत्न ने एक लक्ष स्वर्णमुद्राएं बोधगया में एक विशाल मठ बनवाने और भगवान बुद्धदेव की रत्नजटित स्वर्ण-प्रतिमा निर्माण करने के निमित्त स्वर्णपात्रों में सुसज्जित कीं, राजमहिषी कुमारिला के नेत्रों में श्रद्धा और प्रेम के आंसू छलक आए। उन्होंने उसी समय महासामंत से प्रार्थना की कि उनके कंठहार के दो प्रधान हीरक-खंड श्रीमान की सेवा में इस अनुरोध के साथ भेज दिए जाएं कि हीरक-खंड भगवान बुद्धदेव की प्रतिमा के चरण-अंगुष्ठ के नखों के स्थान पर विजड़ित हों। सम्राट, ये दोनों हीरक जैसे राजमहिषी कुमारिला की श्रद्धा और प्रेम के दो पवित्र अश्रु-विन्दु थे जो आज खो गए! इन अश्रु-विन्दुओं के खो जाने से भगवान के चरणों पर राजमहिषी की श्रद्धांजलि न चढ़ सकेगी। प्रतिमा अपूर्ण रहेगी, सम्राट!

समुद्रगुप्त—(आवेग से) तब सुनो, धवलकीर्ति! तुम सिंहल के राजदूत हो। मेरे महासामंत की भेंट लानेवाले तुम्हारे सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि सम्राट समुद्रगुप्त यदि उन रत्न-खंडों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़कर भगवान बुद्धदेव की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित्त करेगा।

मणिभद्र—सम्राट ......

धवलकीर्ति—सम्राट ......

समुद्रगुप्त—रुको राजदूत, यह प्रतिज्ञा समस्त साम्राज्य के भाग्य-निर्णय के साथ घोषित की जा रही है। यह बुद्धदेव के प्रति मेरे अपराध का दड है। राजमहिषी के विश्वास की रक्षा न कर सकने-वाले का प्रायश्चित्त है। मेरी घोषणा प्रचारित हो और इसके साथ मेरे भाडागार के अधिकरण का कलक भी अमर हो। (मणिभद्र की ओर दृष्टि) वह किस रूप में हो, इसका निर्णय अभी होगा।

मणिभद्र—सम्राट ! आपके इन शब्दो में मेरी मृत्यु भी मेरा उपहास कर रही है। जीवन का एक-एक क्षण मुझे शूल की भाति चुभ रहा है। मैं आपकी सेवा से जाने की आज्ञा चाहता हू जिससे मैं अपने इस कलकित जीवन को अधिक कलकित न कर सकू।

समुद्रगुप्त—ठहरो, मणिभद्र ! मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति में तुम्हारी सहायता अपेक्षित होगी। तुम्हारी आत्महत्या से मेरा कलक मिटेगा नही। मुझे कुछ बातो के जानने की आवश्यकता है।

धवलकीर्ति—सम्राट ! यदि एकान्त की आवश्यकता हो तो मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—नही धवलकीर्ति, ठहरो, तुम्हारे ही सरक्षण मे यह मठ और प्रतिमा निर्मित हुई है, तुम्हारी उपस्थिति भी आवश्यक है। मुझे विश्वास है, तुम अपने सकेतो से मेरे प्रयत्न मे सहायता पहुचाओगे। (मणिभद्र से) विश्वासपात्र मणिभद्र, वे रत्न-खड सर्वप्रथम तुम्हारे अधिकार मे कब आए ?

मणिभद्र—सम्राट ! आज से दस दिन पूर्व।

समुद्रगुप्त—फिर तुमने उन्हे कहा सुरक्षित किया ?

मणिभद्र—इसी कक्ष में, सम्राट !

समुद्रगुप्त—अतरग प्रकोष्ठ मे क्यो नही ?

मणिभद्र—मुझे धवलकीर्ति से यह सूचना मिली थी कि मठ और प्रतिमा

का कार्य संपूर्ण हो गया है और अब वे शीघ्र ही शिल्पियों को दे दिए जाएंगे; अतः उन्हें अंतरंग प्रकोष्ठ में रखने की आवश्यकता नहीं है।

धवलकीर्ति—महासामंत से मुझे यही आज्ञा मिली थी कि मैं शीघ्रातिशीघ्र मठ तथा प्रतिमा के निर्माण और उनकी व्यवस्था की चेष्टा करूं। सिंहलद्वीप के भिक्षुओं को बोधगया में बड़ा कष्ट होता है, इसलिए उनकी सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र मठ-निर्माण होना था; सम्राट, आपकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि आपने भागवतधर्म में विश्वास रखते हुए बोधगया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी।

समुद्रगुप्त—यह मेरी प्रशंसा का अवसर नहीं है, धवलकीर्ति! तो मठ और प्रतिमा की शीघ्र व्यवस्था करने की प्रेरणा से ही तुमने मणिभद्र को अंतरंग प्रकोष्ठ में रखने से रोक दिया?

धवलकीर्ति—हां, सम्राट! शिल्पी प्रतिमा-निर्माण का कार्य समाप्त कर चुके थे। दो-एक दिन में ही भगवान बुद्धदेव के चरण में वे रत्न विजड़ित किए जाते।

समुद्रगुप्त—दो-एक दिन का प्रश्न नहीं था। प्रश्न मणिभद्र के उत्तरदायित्व और कोश-सुरक्षा का था। फिर वे रत्न शिल्पियों को दूसरे दिन दे दिए गए?

मणिभद्र—नहीं सम्राट, वे रत्न शिल्पियों को नहीं दिए जा सके। शिल्पियों को केवल पूर्व निश्चय के अनुसार चार सहस्र स्वर्ण-मुद्राए दी गई थी।

समुद्रगुप्त—क्यों मणिभद्र, तो कार्य-समाप्ति के पूर्व ही उन्हे पारिश्रमिक क्यों दिया गया?

मणिभद्र—धवलकीर्ति का आदेश था।

समुद्रगुप्त—(धवलकीर्ति से) क्यों धवलकीर्ति, यह तुम्हारा निर्देश सत्य है ?

धवलकीर्ति—सत्य है सम्राट ! मैं इन शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न था। वे अत्यन्त सात्त्विक प्रवृत्तिवाले हैं, मुझे विश्वास था कि वे पुरस्कार पाने के उपरांत भी रत्न जड़ने का कार्य पूर्ण करेंगे।

समुद्रगुप्त—ऐसे कितने शिल्पी हैं ?

धवलकीर्ति—केवल दो हैं सम्राट !

समुद्रगुप्त—उनके नाम ?

धवलकीर्ति—घटोत्कच और वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—इस समय वे कहां हैं ?

धवलकीर्ति—वे अपने आवास-स्थान पर ही होंगे।

कोदंड—नहीं सम्राट, वे इस समय बंधन में हैं। जब से रत्नों की चोरी का समाचार प्रसिद्ध हुआ है तब से मैंने उन शिल्पियों को बंदी कर रखा है। मैं उन्हें मणिभद्र के साथ ही ले आया था। वे बाहर हैं। यदि आज्ञा हो तो उन्हें सम्राट की सेवा में उपस्थित करूं।

समुद्रगुप्त—मैं तुम्हारी सतर्कता से प्रसन्न हूं, महाबलाध्यक्ष ! यद्यपि मैं जानता हूं कि शिल्पी निर्दोष हैं, फिर भी मैं उनसे विचार-विनिमय करना चाहूंगा। उन्हें मेरे समक्ष शीघ्र ही उपस्थित करो।

कोदंड—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा। (प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—तो धवलकीर्ति ! तुम शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न हो ?

धवलकीर्ति—हां सम्राट, उन्होंने केवल एक मास में भगवान की प्रतिमा का निर्माण कर दिया।

समुद्रगुप्त—उनके निर्माण-कार्य की कुछ विशेषता ?

धवलकीर्ति—सम्राट! भगवान की प्रतिमा इतनी सजीव ज्ञात होती है मानो वे संघ को उपदेश देने के अनन्तर अभी ही मौन हुए हों।

उनकी प्रतिभा का ओज अन्य धर्मावलंबियों को भी बौद्ध ध की ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

समुद्रगुप्त—और बोधगया का मठ पूर्ण हो गया ?

धवलकीर्ति—हां सम्राट ! मठ भी पूर्ण हो गया। एक सहस्र भिक्षुओ के निवास के योग्य उसमें कला-कुशलता की चरम सीमा उपस्थित की गई है।

समुद्रगुप्त—कला-कुशलता की चरम-सीमा से क्या तात्पर्य है ?

धवलकीर्ति—सम्राट ! बुद्धदेव के जीवन के समस्त चित्र दीवालों पर अंकित हैं। महामाया का स्वप्न, गौतम का जन्म, शाक्य नरेश का सुखोत्सव, वैराग्य उत्पन्न करनेवाले रोग, जरा और मृत्यु के चित्र, भगवान गौतम का महाभिनिष्क्रमण, फिर उनकी तपस्या एवं उनके बोधिसत्व का रूप ! संघ को उपदेश देते हुए उनके चित्रों में महान ऐश्वर्य और विभूति है।

समुद्रगुप्त—और भिक्षुओं की सुविधा का क्या प्रबन्ध है ?

धवलकीर्ति—सम्राट! प्रव्रज्या की समस्त सामग्री प्रत्येक कक्ष में संचित है। चीवर आदि की व्यवस्था देश के अन्य मठों से इसमें विशेष रहेगी। संक्षेप में अब किसी भी भिक्षु को लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से किसी प्रकार की भी असुविधा नहीं हो सकती।

समुद्रगुप्त—तब तो मठ के समस्त शिल्पियों को राज्य की ओर से भी पुरस्कार प्रदान किया जायगा, घटोत्कच और वीरबाहु को तो विशेष रूप से। धवलकीर्ति, पाटलिपुत्र में इन दोनों शिल्पियों को आवास कहां दिया गया था ?

धवलकीर्ति—जिस अतिथिशाला में मैं हूं उसीके समीप राज्य-कुटीर में।

समुद्रगुप्त—तुमने रत्न-खंडों के सम्बन्ध में उनसे कभी चर्चा की थी?

धवलकीर्ति—भगवान बुद्ध की प्रतिमा के समाप्त होने के कुछ पहले ही

मैने भगवान के चरण-अंगुष्ठ में स्थान छोड़ने की आज्ञा देते समय उन रत्नों की चर्चा की थी, किन्तु उनसे अधिक वार्तालाप कर अपना समय नष्ट करना मैंने कभी उचित न समझा। आवश्यक आदेशों के अतिरिक्त मैंने उनसे कभी कोई बात नही की।

समुद्रगुप्त—तुम भूल करते हो, धवलकीर्ति। प्रत्येक कलाकार में कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य होती है। कलाविद् को चाहिए कि कलाकार की उस मौलिकता का वह रत्नों की भांति संग्रह करे।

(महाबलाध्यक्ष कोदंड का प्रवेश)

कोदंड—(प्रणाम कर) सम्राट! दोनो शिल्पी वहां उपस्थित हैं। आज्ञा हो तो उन्हें भीतर लाऊं।

समुद्रगुप्त—यहां उपस्थित करो।

(महाबलाध्यक्ष का प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति! ये दोनो शिल्पी क्या सिंहल के निवासी हैं?

धवलकीर्ति—हां सम्राट! इनका आदिस्थान तो सिंहल ही है, किन्तु अपनी कलाप्रियता के कारण ये समस्त देश का पर्यटन करते हैं।

(महाबलाध्यक्ष कोदंड के साथ घटोत्कच और वीरबाहु का प्रवेश। वे प्रणाम करते हैं।)

कोदंड—(संकेत करते हुए) सम्राट! यह शिल्पी घटोत्कच है और यह वीरबाहु।

समुद्रगुप्त—घटोत्कच और वीरबाहु, सिंहल के शिल्पी किन्तु समस्त देश के अभिमान, राज्य में सौंदर्य की प्रतिष्ठा करनेवाले, प्रस्तर में प्राण फूंकनेवाले! तुम लोगों से राज्य की शोभा है। इसीलिए ये किसी भी दंड-विधान से दंडित नहीं हो सकते। क्यों शिल्पी, सौंदर्य किसे कहते हैं?

घटोत्कच—सम्राट! विषम वस्तु में समता लाना ही सौंदर्य है।

समुद्रगुप्त—और तुम क्या समझते हो, वीरबाहु ?

वीरबाहु—हृदय में अनुराग की सृष्टि का साधन ही सुन्दरता है।

समुद्रगुप्त—यदि चोरी के प्रति हृदय में अनुराग है तो वह सुंदरता है शिल्पी ?

वीरबाहु—सम्राट ! यदि चोरी सात्त्विक भावों से होती है तो वह सुंदरता कही जा सकती है।

समुद्रगुप्त—सात्त्विक भावों से कौन-सी चोरी होती है ?

वीरबाहु—कला, कविता और नारी-हृदय की, सम्राट ! जिसमें निरीहता और पवित्रता है।

समुद्रगुप्त—और रत्न-खंडों की चोरी, शिल्पी ?

वीरबाहु—वह सुंदरता नहीं है, सम्राट ! रत्न-खंडों की चोरी में तृष्णा है, जिसका रूप दुःख है और फल पाप है।

समुद्रगुप्त—तुम्हें ज्ञात है कि सिंहल भेजे गए रत्न-खंड चोरी चले गए ?

वीरबाहु—सम्राट ! मुझे इसकी सूचना महाबलाध्यक्ष से ज्ञात हुई। यही कारण है कि प्रातःकाल से हम लोगों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। हमारी रक्षा कीजिए, सम्राट !

समुद्रगुप्त—तुम लोगों की पूर्ण रक्षा होगी शिल्पी, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो।

वीरबाहु—प्रश्न कीजिए सम्राट !

समुद्रगुप्त—तुम्हे दो सहस्र मुद्राए प्राप्त हो चुकी है ?

वीरबाहु—हा सम्राट !

समुद्रगुप्त—और घटोत्कच, तुम भी पुरस्कृत हो चुके हो ?

घटोत्कच—हा सम्राट !

समुद्रगुप्त—तुम लोग कार्य-समाप्ति से पूर्व ही पुरस्कृत क्यों हुए ?

घटोत्कच—धवलकीर्ति की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

वीरबाहु—या हम लोगों की कार्य-कुशलता ?

समुद्रगुप्त—क्या इस बात की संभावना हो सकती है कि उन दो सहस्र मुद्राओं में वे रत्न-खंड भी चले गए हों ?

घटोत्कच—सम्राट ! यदि रत्न-खंड उन स्वर्ण-मुद्राओं में मिलते तो मैं मणिभद्र को इस बात की सूचना अवश्य देता।

वीरबाहु—सम्राट ! मेरा निवेदन है कि यदि मुझे दो सहस्र मुद्राओं से एक मुद्रा भी अधिक मिलती तो मैं वह मणिभद्र के पास भेज देता।

समुद्रगुप्त—इस बात का प्रमाण ?

घटोत्कच—सम्राट ! हृदय की निर्मलता का प्रमाण केवल निर्मल हृदय ही पा सकता है।

समुद्रगुप्त—क्यों शिल्पी, क्या तुम्हें मेरे हृदय की निर्मलता में विश्वास नहीं है ?

घटोत्कच—सम्राट ! हमें पूर्ण विश्वास है, इसीलिए आपसे निवेदन करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि मैंने आज तक भगवान बुद्धदेव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया है। भगवान बुद्धदेव की प्रतिमा तथा उनके जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करते-करते मेरे हृदय में, मेरी कला में भी, तथागत की प्रतिमा का निर्माण हो गया है। उनके आदर्श मेरी प्रत्येक श्वास में निवास करते हैं। उनके 'आर्यसत्य' मेरी प्रत्येक यति और गति में संचारित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में रत्न-खंडों की प्रभा मेरे चरित्र को कलुषित नहीं कर सकती।

समुद्रगुप्त—वीरबाहु ! तुम्हारा क्या कथन है ?

वीरबाहु—सम्राट ! जो रत्न-खंड भगवान बुद्धदेव के चरणों में स्थान पाने के लिए भेजे गए थे, वे रत्न-खंड निर्जीव हैं और हम लोगों के हृदय सजीव। निर्जीवों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे सजीवों की

प्रकृति में बाधा डाल सकें। यदि आवश्यकता होगी तो रत्न-खंडों के स्थान पर हम लोग अपने हृदय भी विजड़ित करने के लिए प्रस्तुत होंगे।

समुद्रगुप्त—दोनों ही उच्चकोटि के कलाकार तथा शिल्पी हैं। घटोत्कच! बुद्धदेव की प्रतिमा का निर्माण हो गया?

घटोत्कच—सम्राट! पिछले सप्ताह ही पूर्ण हो गया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्न-खंडों को प्राप्त करने में इतना विलम्ब क्यों हुआ?

घटोत्कच—सम्राट! मैंने धवलकीर्ति से रत्न-खंडों के शीघ्र पाने की याचना की थी, किन्तु उन्हें अवकाश नहीं था।

समुद्रगुप्त—धवलकीर्ति को अवकाश नहीं था! क्यों धवलकीर्ति?

धवलकीर्ति—सम्राट! मैं पाटलिपुत्र का उपासक हूं। उसके सौंदर्य को देखने की इच्छा अनेक वर्षों से मेरे हृदय में थी। मैं यहां आकर उसे अधिक से अधिक देखने के अवसर प्राप्त करना चाहता था। अतः मैं प्रायः आपके नगर के उद्यानों और सरोवरों ही में अपने जीवन की अनुभूतियां प्राप्त करता था; किन्तु फिर भी शिल्पियों की आवश्यकता का ध्यान मुझे सदैव रहा करता था।

घटोत्कच—किन्तु गत संध्या को जब मैंने आपकी सेवा में आने की चेष्टा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र में आकर नृत्य-दर्शन की ओर आपको विशेष अभिरुचि हो गई है, आप नृत्यों की विशे भाव-भंगिमाओं के चित्र-संग्रह में इतने व्यस्त रहते हैं कि आपको मेरी प्रार्थनाओं के सुनने का अवकाश नहीं था।

धवलकीर्ति—घटोत्कच, मेरी रुचि की समालोचना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

समुद्रगुप्त—शांत, धवलकीर्ति, मुझे यह सुनकर प्रसन्नता है कि तुम्हें नृत्य-कला विशेष प्रिय है। तुमने पाटलिपुत्र की राजनर्तकी का

नृत्य, सभव है, अभी तक न देखा हो। वह भी मैं तुम्हे दिखलाने का प्रयत्न करूगा।

धवलकीर्ति—सम्राट! आपकी विशेष कृपा है।

समुद्रगुप्त—मैं उसे अभी दिखलाने का प्रबन्ध करूगा, मेरे नृत्य देखने का समय भी हो गया। (महाबलाध्यक्ष से) कोदड, तुम इन शिल्पियो को न्याय-सभा की उत्तरशाला मे स्थान दो। (शिल्पियो से) शिल्पी घटोत्कच और वीरबाहु, तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ। राजकीय नियमो के आचरण से यदि शिल्प-साधको को कुछ असुविधा हो तो वह उपेक्षणीय है। तुम ध्यान मत देना शिल्पी!

वीरबाहु—सम्राट की जो आज्ञा।

घटोत्कच—मुझे कोई असुविधा नही है, सम्राट!

समुद्रगुप्त—तो तुम लोग जाओ, राजशिल्पियो को किसी प्रकार असुविधा नही होनी चाहिए!

कोदंड—जो आज्ञा सम्राट!

समुद्रगुप्त—और सुनो कोदड, राजनर्तकी रत्नप्रभा को इसी स्थान पर आने की सूचना दो। आज मै धवलकीर्ति के साथ इसी स्थान पर राजनर्तकी का नृत्य देखूगा।

(कोदड और शिल्पी जाने के लिए उद्यत होते है।)

समुद्रगुप्त—और सुनो, प्रियदर्शिका से कहना कि वह मेरी वीणा ले आए। आज मैं फिर वीणा बजाना चाहता हू। केदारा के स्वरो का सधान हो।

कोदड—जो आज्ञा।

(कोदड और शिल्पियो का प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—(मणिभद्र से) मणिभद्र! दुर्भाग्य से यदि यह तुम्हारी अतिम रात्रि हो तो तुम्हे अपने सम्राट की वीणा सुनने का अवसर क्यो

न मिले ? तुम भी सुनो।

मणिभद्र—यह मेरा सौभाग्य है सम्राट !

धवलकीर्ति—सम्राट ! फिर मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त—क्यों धवलकीर्ति, क्या तुम हमारी वीणा नहीं सुनोगे ? और राजनर्तकी का नृत्य नहीं देखोगे ? तुम तो बड़े भारी कलाकार हो।

धवलकीर्ति—सम्राट ! प्रशंसा के लिए धन्यवाद ! मैं सोचता हूं कि कला की उपासना के लिए पवित्र मन की आवश्यकता है। मेरा मन इस घटना से बहुत अव्यवस्थित हो गया है।

समुद्रगुप्त—मैं अपनी वीणा से तुम्हारा हृदय व्यवस्थित कर दूंगा। फिर आज वादन और नृत्य को तुम मणिभद्र की विजय-विदा समझो। जिस मणिभद्र ने पच्चीस वर्षों तक राज्य की सेवा की है उसके अंतिम क्षणों को मुझे अधिक से अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस मंगल-वेला के समय तुम्हें भी उपस्थित रहना चाहिए। पाटलिपुत्र के न्यायाचरण में सिंहल का प्रतिनिधित्व हो।

धवलकीर्ति—सम्राट ! आपका कथन सत्य है, किन्तु मैंने समझा संभवतः आप एकान्त चाहते हैं।

समुद्रगुप्त—नहीं धवलकीर्ति ! ऐसे समारोहों में एकान्त टूटे हुए तार की तरह कष्टदायक है।

धवलकीर्ति—(सँभलकर) और सम्राट ! आपकी वीणा में वह स्वर है जो टूटे हृदयों को भी जोड़ देता है। आप संगीत-कला में नारद और तुंबुरु को भी लज्जित करते हैं। आपकी संगीतप्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि आपकी मुद्राओं पर वीणा बजाती हुई राजमूर्ति अंकित है। मैंने सुना है कि आपने अपने अश्वमेध यज्ञ

के उपरांत दो मास तक संगीतोत्सव किया था ।

समुद्रगुप्त—यह सरस्वती की साधना करने की सबसे सरल युक्ति है । अच्छा धवलकीर्ति, तुम भी जानते हो ?

धवलकीर्ति–सम्राट ! आपकी साधना की समानता कौन कर सकता है ? किन्तु इस कला की ओर मेरी अभिरुचि अवश्य है ।

समुद्रगुप्त—और नृत्य-कला भी तो जानते होगे ?

धवलकीर्ति—सम्राट ! नृत्य-कला का मैंने अध्ययन-मात्र किया है । उसकी विवेचना कर सकता हू, किन्तु स्वय नृत्य नही कर सकता ।

समुद्रगुप्त—नृत्य-कला देखने से प्रेम है ?

धवलकीर्ति—यह सिंहल के वातावरण का प्रभाव है ।

समुद्रगुप्त—मुझे प्रसन्नता है कि सिंहल का वातावरण मेरी अभिरुचि के अनुकूल है । फिर तो राजनर्तकी के नृत्य से तुम्हे विशेष प्रसन्नता होगी ।

धवलकीर्ति—यह सम्राट का अनुग्रह है ।

समुद्रगुप्त—और मेरी वीणा के स्वर भी आज मुखरित होंगे ।

धवलकीर्ति—आपकी वीणा तो स्वर्गीय सगीत है, सम्राट !

समुद्रगुप्त—अधिक नही, धवलकीर्ति ! किन्तु सगीत ईश्वरीय विभूति की वह किरण है जिससे मनुष्य देवता हो जाता है । हृदय का समस्त कलुष वीणा की एक झकार से ही दूर हो जाता है ।

(प्रियदर्शिका का वीणा लिए हुए प्रवेश । वह प्रणाम करती है ।)

समुद्रगुप्त—आओ प्रियदर्शिके ! आज मैं फिर वीणा बजाऊगा ।

प्रियदर्शिका—(वीणा आगे प्रस्तुत कर) प्रस्तुत है सम्राट !

समुद्रगुप्त—(वीणा हाथ में लेते हुए) केदारा के स्वर में वीणा का सधान है ?

प्रियदर्शिका—हा सम्राट ! इसी राग की आज्ञा प्राप्त हुई थी ।

समुद्रगुप्त—राजनर्तकी रत्नप्रभा का शृंगार पूर्ण हुआ ?

प्रियदर्शिका—वे तैयार हैं, वे आपकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा चाहती हैं।

समुद्रगुप्त—उन्हें नृत्य के साथ आने दो, केदारा स्वरों में।

प्रियदर्शिका—(सिर झुकाकर) जो आज्ञा ! (प्रस्थान)

समुद्रगुप्त—(वीणा के तारों पर उंगलियां फेरते हुए) सुनो धवलकीर्ति ! केदारा के स्वर में यह भावना है कि करुणा की समस्त मूर्छनाएं एक बार ही हृदय में जागरित हो जाती हैं। ऐसा ज्ञात होता है जैसे सारा संसार तरल होकर किसीकी आंखों में आंसू बनकर निकलना चाहता है। तारिकाएं आकाश की गोद में सिमटकर पतली किरणों में प्रार्थना करने लगती हैं। कलिकाएं सुगंधि की वेदना से फूल बन जाती हैं और बिन्दु में डूबकर पृथ्वी के चरणों में आत्मसमर्पण करना चाहती हैं। अच्छा, तो सुनो वह रागिनी !

[समुद्रगुप्त वीणा पर केदारा का स्वर छेड़ते हैं। धीरे-धीरे बजाते हुए वे तन्मय हो जाते हैं। उसी क्षण रत्नप्रभा का नृत्य करते हुए प्रवेश। रत्नप्रभा के अंग-अंग से रागिनी की गति व्यक्त हो रही है। वह अठारह-वर्षीया सुंदरी है। सौन्दर्य की रेखाओं ही में उसके शरीर की आकृति है। केश-कलाप में पुष्पों की मालाएं, शरीर में अंगराग और चन्दन की चित्र-रेखाएं हैं। मस्तक पर केशर का पुष्पांकन। बीच में कुंकुम का बिंदु। नेत्र-कोरों में अंजन की रेखा। चिबुक[1] पर कस्तूरी-बिन्दु। कंठ में मुक्ताहार। हृदय पर रत्न-राशि। कटि में दोलायमान[2] किंकणी और पैरों में नूपुर। वह *केदारा राग की साकार प्रतिमा बनकर नृत्य कर रही है।* साथ ही सम्राट समुद्रगुप्त की वीणा से निकलती हुई रागिनी राजनर्तकी के पद-विन्यास में माधुर्य भर रही है। कुछ समय नृत्य करने के उपरान्त 'सम' पर राज-नर्तकी

---

[1] ठोड़ी [2] झूलती हुई

हाथ जोडकर भाव-मुद्रा मे सम्राट के समक्ष तिरछी होकर खडी हो जाती है]

समुद्रगुप्त—(प्रसन्न होकर) मेरे राज्य की उर्वशी, तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो !……यह पुरस्कार।

(गले से मोतीमाला उतारकर देते हैं।)

रत्नप्रभा—(हाथ जोडकर) सम्राट ! मैं इसके योग्य नही हू। मुझसे आज बहुत बडा अपराध हुआ है।

समुद्रगुप्त—(शात होकर) तुमसे ? कभी कोई अपराध नही हुआ। कौन-सा अपराध ?

रत्नप्रभा—पहला अपराध तो यह है कि मैं आपकी मधुर वीणा के अनुकूल नृत्य नही कर सकी। आपके सगीत की मर्यादा कभी भग नही हुई। आज मेरे नृत्य के कारण आपका सगीत कलुषित हो गया, सम्राट !

समुद्रगुप्त—नही रत्नप्रभा ! अपने नृत्य से तुमने मेरे स्वरो में सहायता ही पहुचाई है, हानि नही।

रत्नप्रभा—सम्राट ! मैं अनुगृहीत हू। आपने कभी मेरे नृत्य के साथ वीणा नही बजाई। आज आपने नृत्य को अनन्त गौरव प्रदान किया है।

समुद्रगुप्त—यह कला की साधना मे आवश्यक है। अच्छा दूसरा अपराध कौन-सा है ?

रत्नप्रभा—सम्राट ! आपने इतनी मधुर वीणा बजाई कि सगीत की इस दिव्य अनुभूति से मेरे हृदय का समस्त दोष दूर हो गया और आज मैं अपना अपराध स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हू।

समुद्रगुप्त—मैं उत्सुक हू सुनने के लिए, रत्नप्रभा !

रत्नप्रभा—सम्राट ! राजनर्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की।

समुद्रगुप्त—(उत्सुकता से) किससे ?

धवलकीर्ति—(शीघ्रता से) मुझसे सम्राट, सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति से।

समुद्रगुप्त—तो इससे कोई हानि नहीं। तुम तो हमारे राज्य के अतिथि हो। तुमसे भेंट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

रत्नप्रभा—फिर भी सम्राट ! अन्य राज्य के व्यक्ति की भेंट स्वीकार करने की आज्ञा मेरी आत्मा मुझे नहीं देती। इनकी यह भेंट आप ही के चरणों में समर्पित करती हू और वह यह है।

(सम्राट के चरणों में हीरक-खंड समर्पित करती है।)

मणिभद्र—(हीरक-खंडों को देखकर प्रसन्नता से) वे हीरक-खंड यही हैं, यही हैं। (उद्वेग से) महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे, महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे !

समुद्रगुप्त—(रत्नों को हाथ में लेकर) ठहरो, ठहरो मणिभद्र। प्रसन्नता से पागल मत बनो। (धवलकीर्ति से) राजदूत धवलकीर्ति, क्या यह सत्य है ?

धवलकीर्ति—(लज्जा से सिर नीचा करके मौन है।)

समुद्रगुप्त—बोलो राजदूत ! क्या तुम इसी आचरण से राजदूतत्व का निर्वाह करते हो ?

धवलकीर्ति—सम्राट ! मैं लज्जित हूं।

समुद्रगुप्त—राजदूत ! मुझे तुमपर पहले से कुछ शंका हो रही थी। मणिभद्र की आत्महत्या से तुम मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, राजमहिषी कुमारिला के कंठ-हार के रत्नों की पवित्रता का संदेश जतलाकर तुम राज्याधिकार को लांछित करना चाहते थे; तुम इसीलिए शिल्पियों पर प्रसन्न हुए कि वे रत्नखंडों के लिए अधिक जिज्ञासा न करें, तुम रत्नप्रभा के नृत्य के पूर्व ही चले जाना चाहते

थे, जिससे तुम रत्नप्रभा के समक्ष दोषी होने से बच सको। मैंने इसीलिए आज वीणा बजाई जिससे सगीत के वातावरण मे अपराधी विह्वल हो जाए और अपना रहस्य खोल दे। नही तो मर्यादा के सकट मे सगीत की क्या आवश्यकता! तुम मेरे ही राज्य मे आकर विष का बीज बोना चाहते हो? बोलो, क्या दड दिया जाए?

धवलकीर्ति—सम्राट जो चाहे मुझे दड दे।

समुद्रगुप्त—तुम जानते हो धवलकीर्ति, राजदूत दडित नही होता इसीलिए तुम निर्भीकता से कहते हो, 'सम्राट! जो चाहे मुझे दड दे।' किन्तु तुम यह ठीक तरह समझ लो कि समुद्रगुप्त न्याय को देवता मानकर पूजता है और अन्याय को दैत्य समझकर उसका विनाश करता है। मैं अपने महासामत सिरिमेघरत्न से तुम्हारे दड की व्यवस्था कराऊगा। तुमने राजमहिषी कुमारिला के रत्न खडो को स्वय कलुषित किया है, मणिभद्र के प्राण सकट मे डाले हैं, राजनर्तकी को मर्यादा के पथ से विचलित करने का प्रयत्न किया है। दड तुम्हे पाकर सुखी होगा।

धवलकीर्ति—सम्राट! मुझे अधिक लज्जित न कीजिए। मैं स्वय परिताप की अग्नि मे जल रहा हू।

समुद्रगुप्त—उस परिताप की अग्नि के प्रकाश से क्या यह स्पष्ट कर सकते हो कि ये रत्न-खड तुमने मणिभद्र की सरक्षा से किस प्रकार मुक्त किए?

धवलकीर्ति—अपने अतिम समय मे मैं असत्य भाषण नही करूगा, सम्राट! आपको अभी ज्ञात हुआ कि शिल्पियो की कार्य-समाप्ति, के पूर्व ही शिल्पियो को मैंने प्रसन्न हो पारिश्रमिक दे दिया और यह इसलिए जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हे देने के लिए स्वर्ण-मुद्राए गिने तो मैं मणिभद्र का ध्यान सिहल की मुद्राओ को विशे-

पता की ओर बार-बार आकर्षित करूं। ऐसे ही किसी अवसर पर मैं ये रत्न-खंड दृष्टि बचाकर मंजूषा में से निकाल लूं। अपने कार्य की सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया।

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किए?

धवलकीर्ति—मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की, किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूंगी। मैंने बार-बार प्रार्थना की और उसकी सुन्दरता के अनुरूप ही हीरक-खंडों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खंड ले लिए। न जाने क्या सोचकर, क्या समझकर!

समुद्रगुप्त—फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया?

धवलकीर्ति—नहीं सम्राट! उसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त—रत्नप्रभा, मैं तुमसे प्रसन्न हूं। अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार।

(हाथ में रखी हुई माला देते हैं।)

रत्नप्रभा—(माला लेकर सिर झुकाकर) सम्राट! आपकी प्रसन्नता ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त—मेरे साम्राज्य में इस प्रकार का अन्याय नही हो सकता। इसी बात से मैं सुखी हू।

धवलकीर्ति—सम्राट! मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है?

समुद्रगुप्त—नही, अब केवल महासामत को सूचना देनी है कि राजमहिषी के रत्न-खंडों को भगवान बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दंड-व्यवस्था हो उसका प्रबन्ध करें।

धवलकीर्ति—सम्राट! आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठाएं। मैंने

मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खडो को कलुषित किया, राजनर्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की और सम्राट, आपके प्रायश्चित्त करने का अवसर उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दड बहुत भयानक है। यदि मुझे सौ बार प्राण-दड दिया जाए, तब भी वह पर्याप्त नही है। मैं अपनी ओर से सबसे बडा दड स्वय अपने को दे रहा हू—वह है आत्महत्या!

(कटार अपने हृदय मे मार लेता है और सम्राट के समक्ष ही गिर पडता है। मणिभद्र और राजनर्तकी के मुख से आश्चर्य और दु ख की ध्वनि।)

समुद्रगुप्त—स्वय दडित होने से अब तुम अपराधो से मुक्त हुए धवलकीर्ति, तुमने नाम का धवल ही रहने दिया।

धवलकीर्ति—(अस्फुट स्वरों में) मैं ‥राजमहिषी को‥‥ अपना मुख‥‥ नही दिखला सकता था‥ सम्राट!—मेरी कला की उपासना अमत्य है। मुझे शांति से मरने दें। आपका संगीत‥ ।

समुद्रगुप्त—हा धवलकीर्ति, मैं तुम्ह सगीत सुनाऊगा। राजनर्तकी! तुम नृत्य करो, सच्चे अपराधी की मृत्यु को मगलमय बनाओ। मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो। मैं भी वीणा-वादन करूगा। शिल्पियों को मुक्त कर यहा आने का निमत्रण दो। आज धवलकीर्ति मृत्यु के समय मेरा मगलवाद्य सुने। राजनर्तकी! नृत्य आरम्भ हो।

(राजनर्तकी नृत्य करने के लिए प्रस्तुत होती है और सम्राट समुद्रगुप्त अपने हाथ मे वीणा लेकर स्वर छेडते हैं। परदा गिरता है।)

उसने कहा था

[चन्द्रधर शर्मा गुलेरी]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की पक्की सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढीवाले[1] के लिए ठहरकर, सबका समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा'[2] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसीको हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक[3] से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—'हट जा, जीउण जोगिए, हट जा करमा वालिए; हट जा

---

1. गाड़ीवाले 2. बादशाह 3. गाड़ी चलने का रास्ता

पुत्ता प्यारिए, बच जा, लम्बी वालिए।'[1] समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योवाली है, पुत्रो को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यो मेरे पहियो के नीचे आना चाहती है ? बच जा ।

ऐसे बम्बूकार्टवालो के बीच में होकर एक लडका और एक लडकी चौक की दुकान पर आ मिले । उसके बालो और इसके ढीले सुथने[2] से जान पडता था कि दोनो सिख हैं । वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बडिया । दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापडो की गड्डी को गिने बिना हटता न था ।

'तेरे घर कहा है ?"

"मगरे में,—यहा कहा रहती है ।"

"अतरसिह की बैठक म, वे मेरे मामा होते हैं ।"

"मैं भी मामा के यहा आया हू, उनका घर गुरुबाजार म है ।"

इतने म दूकानदार निबटा और उनका सौदा देने लगा । सौदा लेकर दोनो साथ-साथ चले । कुछ दूर जाकर लडके ने मुस्कराकर पूछा, "तेरी कुडमाई[3] हो गई ?" इसपर लडकी कुछ आखें चढाकर 'धत्' कहकर दौड गई और लडका मुह देखता रह गया ।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहा या दूधवाले के यहा अकस्मात् मिल जाते । महीना-भर यही हाल रहा । दो-तीन बार लडके ने फिर पूछा, "तेरी कुडमाई हो गई ?" और उत्तर म वही 'धत्' मिला । एक दिन जब फिर लडके ने वैसे ही हसी म चिढाने के लिए पूछा, तो लडकी लडके की सभावना के विरुद्ध बोली, "हा, हो गई ।"

"कब ?"

"कल :—देखते नही यह रेशम से कढा हुआ सालू"[4] लडकी भाग

---

[1] हट जा, जीने योग्य , बच जा, अच्छे कर्मवाली , हट जा, पुत्रो की प्यारी , बच जा, लम्बी उम्रवाली [2] सलवार [3] सगाई [4] दुपट्टा

गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी[1] में धकेल दिया, एक छावड़ीवाले[2] की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उडेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुंचा।

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे-बैठे हड्डियां अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धंसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं, घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े! नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहां दिन में पच्चीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा[3] या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम, बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार दिन तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जाएगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[4] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं दाम नहीं लेती, कहती है, 'तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

"चार दिन तक पलक नहीं झपी; बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता

---

1. नाली 2. खोमचेवाले 3. पगड़ी बांधने का कपड़ा 4. सिख जिस विधि से बकरे आदि पशु को मारकर खाने के लिए मांस तैयार करते हैं उसे 'झटका' कहते हैं। झटके में एक ही वार में पशु को मारा जाता है।

है और बिना लडे सिपाही। मुझे तो सगीन चढाकर मार्च का हुक्म मिल जाए। फिर सात जर्मनो को अकेला मारकर न लौटू तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना[1] नसीब न हो। पाजी कही के, कलो के घोडे सगीन देखते ही मुह फाड देते हैं और पैर पकडने लगते हैं। यो अधेरे मे तीस-तीस मन का गोला फेकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नही छोडा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान[2] दिया, नही तो… …"

"नही तो सीधे बर्लिन पहुच जाते, क्यो ?" सूबेदार हजारासिह ने मुस्कराकर कहा, "लडाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नही चलते। बडे अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ गए तो क्या होगा ?"

"सूबेदारजी, सच है," लहनासिह बोला, "पर करें क्या ? हड्डियो मे तो जाडा धस गया है। सूर्य निकलता नही और खाई में दोनो तरफ से चबे की बावलियो के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाए तो गरमी आ जाए।"

"उदमी[3] उठ, सिगडी मे कोयले डाल। वजीरा, तुम चार जने[4] बाल्टिया लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खदक में चक्कर लगाने लगा।

वजीरासिह पल्टन का विदूषक था। बाल्टी मे गदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला, 'मैं पाधा[5] बन गया हू। करो जर्मनो के बादशाह का तर्पण !" इसपर सब खिलखिला पडे और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा, "अपनी बाडी के खरबूजो म पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-

---

1 सिर झुकाना 2 हुक्म 3 ऊदमसिंह 4 व्यक्ति ५ पुरोहित

भर में नहीं मिलेगा।"

"हां, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाव[1] ज़मीन यहां मांग लूंगा और फलों के बूटे[2] लगाऊंगा!"

"लाड़ी होरां[3] को भी यहां बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फिरंगी मेम……"

"चुप रह। यहांवालों को शरम नहीं।"

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, होंठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूं तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं!"

"अच्छा अब बोधासिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊं। रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़ारा करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे[4] पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और निमोनिया से मरनेवालों को मुरब्बे[5] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूंगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आंगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा, "क्या मरने-मराने की बात लगाई है!"

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी

---

1. घुमाव—2000 वर्गगज़ ज़मीन 2. पौधे 3. बहूजी 4. सुस्त 5. ज़मीन का एक नाप

खंदक गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए; मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

दो पहर रात हो गई है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टीनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक ब्रानकोट[1] ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आंख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर।

बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधासिंह, भाई क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुंह से लगाकर पूछा, "कहो कैसे हो?"

पानी पीकर बोधा बोला, "कंपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दांत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लग रही है। पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए…"

"हां, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो?"

"और नहीं झूठ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता पहन-

---

[1] ओवरकोट

कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुंह से आवाज आई, "सूबेदार हजारासिंह!"

"कौन? लपटन साहब? हुक्म हुजूर!" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील-भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहां मोड़ है, वहां पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूं। तुम यहां दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहां रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने अंगुली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इसपर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगडी के पास मुंह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा, "लो, तुम भी पियो।"

आख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुह का भाव छिपाकर बोला, "लाओ साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहां उड़ गए और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहां से आ गए?

शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका

मिल गया है ! लहनासिंह ने जाचना चाहा । लपटन साहब पाच वर्ष से उसकी रेजिमेंट मे थे ।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जाएगे ?"

"लड़ाई खत्म होने पर । क्यों, क्या यह देश पसन्द नही ?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहा कहा ! याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी के जिले मे शिकार करने गए थे ?" —"हा, हा ।"—"वही जब खोते¹ पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर मे जल चढाने को रह गया था ?"—"बेशक, पाजी कही का !"—"सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बडी मैंने कभी न देखी थी । और आपकी एक गोली कधे मे लगी और पुट्ठे मे निकली । ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने मे मजा है । क्यो साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मेस मे लगाएग ।"

"हा, पर हमने वह विलायत भेज दिया ।"

"ऐसे बडे-बडे सींग ! दो-दो फुट के तो होगे ?"

"हा लहनासिंह, दो फुट चार इच के थे, तुमने सिगरेट नही पिया ?"

"पीता हू साहब, दियासलाई ले आता हू ।" कहकर लहनासिंह खदक में घुसा । अब उसे सन्देह नही रहा था । उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए । अधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया ।

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हा, क्यो लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आख लगने दी होती ?"

"होश मे आओ । कयामत आई है, और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है ।"

---

[1] गधे

"क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए है। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुंह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सोहरा[1] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है!"

"तो अब ?"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहां खाई पर धावा होगा। उधर उनपर खुले में धावा होगा। उठो; एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आएं। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यही···"

"ऐसी-तैसी हुकुम की। मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहां सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूं।"

"पर यहां तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बांध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने···

---

[1] ससुरा (गाली)

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आख! मीन गोट्ट'[1] कहते हुए चित हो गए। लहनासिंह ने तीन गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास से हटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हंसकर बोला, "क्यों लपटन साहब, मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ उर्दू कहां से सीख आए? हमारे लपटन साहब तो बिना डेम' के पांच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।" लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेब में डाले।

लहनासिंह कहता गया, "चालाक तो बड़े हो। पर माझे[2] का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आंखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गांव में आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज बांटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[3] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान आ जाएंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों

---

[1] हाय मेरे परमात्मा (जर्मन) [2] पंजाब का एक भाग विशेष [3] पलंग

को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाकबाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूंड़ दी थी और गांव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गांव में अब पैर रखा तो…"

साहब की जेब से पिस्तौल चला और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया, "क्या है?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का¹ हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियां कसकर बांधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहां थे आठ (लहनासिंह तक-तककर² मार रहा था, वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े-से मिनटों में वे…

अचानक आवाज़ आई, "वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा!" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और, "अकाली सिखों की फौज आई! वाह गुरुजी दा खालसा!! सत श्री अकाल

---

1. पागल 2. निशान साध-साधकर

पुरुष !!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिखों में पन्द्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर[1] लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसीको खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव भारी लगा है।

लड़ाई के समय चांद निकल आया था, ऐसा चांद, जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरतबुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मर जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर के खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहां से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर-अंदर आ पहुंचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहां पहुंच जाएंगे, इसलिए मामूली पट्टी बांधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जांघ में पट्टी बंधवानी चाही, पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे को देखा जाएगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहनासिंह को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा, "तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगन्ध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

---

[1] भर

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहां पहुंचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियां आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूं! वज़ीरासिंह मेरे पास ही है।"

"अच्छा, पर…"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया। भला, आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो! सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, मैंने कर दिया।"

गाड़िया चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा, "तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को ही कह देना। उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया, "वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएं एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उनपर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहां आया हुआ है। दहीवाले के यहां, सब्जीवाले के यहां, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा, 'हां, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के बूटोंवाला

सालू ?'सुनते ही लहनासिह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ ?

"वज़ीरासिह, पानी पिला दे।"

पच्चीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिह नं० 77 रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नही। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहा रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम[1] पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाव रास्ते मे पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिह सूबेदार के यहा पहुचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'बेड़े'[2] मे से निकलकर आया। बोला, 'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा, मिल आ।' लहनासिह भीतर पहुचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं! कब से? रेजिमेंट क्वार्टरों मे तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नही। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नही।'

'तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नही रेशमी बूटों[3] वाला सालू—अमृतसर मे—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वज़ीरा, पानी पिला।"—'उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है, 'मैंने तेरे को आते ही

---

1. युद्धस्थल 2. जनाने 3 बेलबूटो

पहचान लिया । एक काम कहती हूं । मेरे तो भाग फूट गए । सरकार ने बहादुरी का ख़िताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है । पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती ! एक बेटा है । फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ । उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया ।' सूबेदारनी रोने लगी, 'अब दोनों जाते हैं । मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टांगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था । तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे । आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था । ऐसे ही इन दोनों को बचाना । यह मेरी भिक्षा है । तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूं ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[2] में चली गई । लहना भी आंसू पोंछता हुआ बाहर आया ।

"वज़ीरासिंह पानी पिला ।"—'उसने कहा था ।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वज़ीरासिंह बैठा है । जब मांगता है, तब पानी पिला देता है । आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला, "कौन ? कीरतसिंह ?"

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा—"हां ।"

"भैया, मुझे और ऊंचा कर ले । अपने पट्ट[3] पर मेरा सिर रख ले ।"

"हां, अब ठीक है । पानी पिला दे । बस, अब के हाड़[4] में यह आम खूब फलेगा । चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना । जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है । जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था ।

---

1. स्त्रियों 2. अंदर का घर 3. जांघ 4. आषाढ़

वज़ीरासिह के आसू टप-टप टपक रहे थे।

कुछ दिन पीछे लोगो ने अखबारो मे पढा—फ्रास और बेलजियम 68वी सूची—मैदान मे घावो से मरा—न० 77 सिख राइफल्स जमादार लहनासिह।

बुढ़ापा

[पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र']

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हंस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस खोने में दुःख नहीं, सुख था; सुख ही नहीं स्वर्ग भी था। इस 'पाने' में सुख नहीं है; दुख ही नहीं नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता था, "मैया मैं तो चन्द्र खिलौना लैहौं।" जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी, "दौर में सागर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।" और 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' वाला बुढ़ापा, भवसागर के निकट थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है, "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, 'हा-हा-हा-हा' है? यह सब सफेद झूठ है, कोरी कल्पना है, धोखा है, प्रवंचना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले—एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को, बतलाएंगे कि जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है; हंसी नहीं, रुदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है।

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन! जवानी ने बीस वर्षों तक, कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे, और कभी मान के

पीछे दौड लगाकर क्या हासिल किया ?—वार्धक्य[1] के लिफाफे मे सर्वनाश, पतन और…और…अब वह बुढापा घण्टो नाक दबाकर, ईश्वर-भजन कर, सिद्धियो की साधना मे दत्तचित्त होकर, खनन का खजाना इकट्ठा कर बेटो की 'बटालियन' और बेटियो की 'बैटरी' तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी मे कर लेगा ?—वही सर्वनाश, वही पतन ! मुझसे पूछो, मैं कहता हू—और छाती ठोककर कहता हू—जीवन का अर्थ है—'प…त…न' !

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हू, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिनमणि[2] कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी उषा से होली खेल-खेलकर गगा को बेला को, तरगो को, मद मलयानिल को, नीलाम्बर को, दसो दिशाओ को और भगवती प्राची के अचल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रग मे रगकर वही नाच देखने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता मे देखने लगता है। मगर ''मगर'''?

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हू, दुनिया भी देखती है। सायकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लडकपन नही, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नही, वह ढलता हुआ—कम्पित करोवाला व्यथित बुढापा भी नही। श्री नही, तेज नही, ताप नही, शक्ति नही। उस समय सूर्य को उसकी दिन-भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है ? सर्वनाश, पतन। उस पार—क्षितिज के चरणो के निकट, समुद्र की हाहामयी तरगो के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायकाल रूपी काला चाण्डाल खडा रहता है। प्राची की अभागिनी बहिन पश्चिमा 'आग'

---

1. बुढापा 2 सूर्य

देती है। दिशाएं व्यथित रहती हैं, खून के आंसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओतप्रोत रहता है।

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञान होता है कि जीवन का असली अर्थ और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवाले की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की, बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ सर्वनाश या पतन है, यह कह देना सरल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी बड़ी बात नहीं; पर पतन या सर्वनाश को आंखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना, केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझपर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—"हट जाओ, हट जाओ! 'हनुमानगढ़ी' से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है! पूरा 'किष्किंधावासी' मालूम पड़ता है।"

बस, बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा, "नालायको! आज कमर झुक गई है। आज आंखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गए हैं। आज दुनिया की तस्वीरें भूले हुए स्वप्न की तरह मिल-मिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है; मगर हमेशा यही हालत नहीं थी।

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीवित रहा तो जवान होता है, और प्रत्येक जवान, अगर जल्द

खत्म न हो गया तो एक न एक दिन 'हनुमानगढी का जानवर' होता है। लडकपन और जवानी के हाथो बुढापे पर जैसे अत्याचार होते है यदि वैसे ही अत्याचार बुढापा भी उनपर करने लगे तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाए। बच्चे जन्मते ही मार डाले जाए, लडके होश सभालते ही अपना पेट पालने के लिए घर से बाहर निकाल दिए जाए। ससार से दादा के माल पर फातिहा पढने की प्रथा ही उठ जाए।

"अब भी सौ मे से निन्यानवे धनी अपने बूढे बापो की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हजार मे नौ सौ साढे-निन्यानवे शौकीन जवानो के भडकीले कपडो के दाम, कघी, शीशा, 'ओटो', 'लवेण्डर', 'सोप', 'पाउडर', 'पालिश' और शराब की बोतलो के पैसे बूढो की गाढी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी ससार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमजोर हृदयवाला बुढापा ही है, बेवकूफ लडकपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं''। फिर बूढो का इतना अपमान क्यो ? बुढापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यो ?"

मगर उन लडको के कान तक मेरी दुहाई की पहुच न हो सकी। सबने एक स्वर से ताली बजा-बजाकर मेरी बातो की चिडियो को हवा मे उडा दिया।

"भागो ! भागो ! ! हनुमानजी खाव-खाव कर रहे हैं। ठहरोगे, तो किटकिटाकर टूट पडेंगे, नोच खाने पर उतारू हो जाएगे।"

लडके 'हू-हू', 'हो-हो' करते भाग खडे हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हडपन और अज्ञान की ओर आखें फाड-फाडकर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई, जो मैंने आज से युगो पूर्व लडकपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न !

एक बार जुआ खेलने को जो चाहता है। ससार बुरा कहे या भला

—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हंसे या चाहे जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो, तो सामने आए। मैं जुआ खेलूंगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफ़ेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, कांपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन-भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हजार-हजार रुपये, लाल-लाल गिन्नियां और गड्डियों के नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार हूं। सब कुछ देकर जवानी लेने को राजी हूं। कोई हकीम हो, सामने आए, उसे निहाल कर दूंगा। मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूं—जवानी की दवा चाहता हूं। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुंहमांगा दूंगा।

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े से बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारण कर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्दगति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर 'कुहू-कुहू' करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हंसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में सब कुछ भूलकर विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धमाचौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुंबित होते हैं, लिपटते हैं, लिपटाते हैं—दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मंगल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका-सा मुंह लिए, कोरी आंखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकुर-टुकुर देखा करता हूं।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।

हर साल मतवाली वर्षा ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा लुढ़काया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—'काले मेघा पानी दे!' जवानी पगली होकर गाने लगती

है—'आई कारी बदरिया ना !' और मेरा बुढापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख के भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल मे फंसकर खांसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नही खा सकते। तड़प-तड़पकर रह जाते हैं। उफ !

उस समय मालूम पड़ता है, बुढापा ही नरक है।

इस नरक से मुझे कोई बाहर कर दे, युवा बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हू। बुढापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हा, हा, करोड दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हू, मैं भुक्तभोगी हू, मुझपर बीत रही है।

(कोई यदु[1] हो तो इस बूढे की सहायता करे। मैं मरने से पहले एक बार फिर उन आशाओं को चाहता हू, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, प्यार होने और फंसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार फिर किसीके प्रेम में फंसकर गाऊं।)

एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर बैठे-बिठाए दुनिया की दृष्टि मे व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करू।

मगर नही। वार्धक्य वह रोग नही, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज लाइलाज है। यह सिरदर्द ऐसा है कि सिर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढापे के नरक में आया हूं। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नही दिला सकता। बुढापा वह

---

[1] राजा ययाति का ज्येष्ठ पुत्र जिसने पिता को यौवनदान दिया था।

पतन है, जिसका उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोय', यदि एक वैद्य है तो 'नारायणो हरिः'।

फिर अब देर काहे को प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूं। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र ही नाश करो, पंचतत्त्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से निर्माण हो; फिर से, नये सिरे से सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से जन्म हो; फिर से, नये सिरे से शैशव हो; फिर से नये सिरे से यौवन हो; फिर से भोग हो, विलास हो, सुख हो, आमोद हो, कविता हो, प्रेम हो, पागलपन हो, मान में अपमान और अपमान में मान हो ! फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाए, परलोक भूल जाए, भय भूल जाए, शोक भूल जाए, सब भूल जाए और तुम—ईश्वर—भूल जाओ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ! दया करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो !

राजपूतानी का प्रायश्चित्त

[सुदर्शन]

कुंवर वीरमदेव कलानौर के राजा हरदेवसिंह के पुत्र थे, तलवार के धनी और पूरे रणवीर। प्रजा उनपर प्राण देती थी और पिता देख-देखकर फूला न समाता था। वीरमदेव ज्यों-ज्यो प्रजा की दृष्टि मे सर्वप्रिय होते जाते थे, उनके सद्‌गुण बढते जाते थे। प्रातःकाल उठकर स्नान करना, निर्धनों को दान देना, यह उनका नित्यकर्म था, जिसमें कभी चूक नही होती थी। वे मुस्कराकर बात करते थे और चलते-चलते बाट में कोई स्त्री मिल जाती, तो नेत्र नीचे करके चले जाते थे। उनका विवाह नरपुर के राजा की पुत्री राजवती से हुआ था। राजवती केवल देखने में ही रूपवती न थी, वरन् शील और गुणों मे भी अनुपम थी। जिस प्रकार वीरमदेव पर पुरुष मुग्ध थे, उसी प्रकार राजवती पर स्त्रिया लट्टू थी। कलानौर की प्रजा उन को चन्द्र-सूर्य की जोड़ी कहा करती थी।

वर्षा के दिन थे, भूमि के चप्पे-चप्पे पर सुन्दरता निछावर हो रही थी। वृक्ष हरे-भरे थे; नदी-नाले उमड़े हुए थे। वीरमदेव सफलगढ़ पर विजय प्राप्त करके प्रफुल्लित मन से वापस आ रहे थे। सम्राट अलाउद्दीन ने उनके स्वागत के लिए बड़े समारोह से तैयारिया की थी। नगर के बाजार सजे हुए थे। छज्जों पर स्त्रिया थी। दरबार के अमीर अगवानी को उपस्थित थे। वीरमदेव उत्फुल्ल वदन से सलामे लेते और दरबारियो से हाथ मिलाते हुए दरबार मे पहुचे। उनका तेजस्वी मुखमंडल और विजयी चाल-ढाल देखकर अलाउद्दीन का हृदय दहल गया,

परन्तु वह प्रकट हंसकर बोला, "वीरमदेव ! तुम्हारी वीरता ने हमारे मन में घर कर लिया है। इस विजय पर तुम्हें बधाई है।" वीरमदेव को इससे प्रसन्नता नहीं हुई। हन्त, यह बात किसी सजातीय के मुख से निकलती। यह बधाई किसी राजपूत की ओर से होती, तो कैसा आनंद होता ! विचार आया, मैंने क्या किया ? वीरता से विजय प्राप्त की, किन्तु दूसरे के लिए। युद्ध में विजयी, परन्तु सिर झुकाने के लिए। इस विचार से मन में ग्लानि उत्पन्न हुई। परन्तु आंख ऊंची की तो दरबारी उनकी ओर ईर्ष्या से देख रहे थे और आदर-पुरस्कार पांवों में बिछ रहा था। वीरमदेव ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "हुजूर का अनुग्रह है, मैं तो एक निर्बल व्यक्ति हूं।"

बादशाह ने कहा, "नहीं, तुमने वास्तव में वीरता का काम किया है। हम तुम्हें जागीर देना चाहते हैं।"

वीरमदेव ने कहा, "मेरी एक प्रार्थना है।"

"कहो।"

"कैदियों में एक नवयुवक राजपूत जीतसिंह है, जो पठानों की ओर से हमारे साथ लड़ा था। वह है तो शत्रु; परन्तु अत्यन्त वीर है। मैं उसे अपने पास रखना चाहता हूं।"

अलाउद्दीन ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "मामूली बात है, वह कैदी हमने तुम्हें बख्शा।"

दो वर्ष के पश्चात् वीरमदेव कलानौर को वापस लौटे, तो मन उमंगों से भरा हुआ था। राजवती की भेंट के हर्ष में पिछले सब दुःख भूल गए। तेज चलनेवाले पक्षी की नाईं उमंगों के आकाश में उड़े चले जाते थे। मातृभूमि के पुनर्दर्शन होंगे। जिस मिट्टी से शरीर बना है, वह फिर आंखों के सम्मुख होगी। मित्र-बन्धु स्वागत करेंगे, बधाइयां देंगे। उनके शब्द जिह्वा से नहीं, हृदय से निकलेंगे। पिता प्रसन्न होंगे,

स्त्री द्वार पर खड़ी होगी। ज्यों-ज्यों कलानौर निकट आ रहा था, हृदय की आशा भड़क रही थी। स्वदेश का प्रेम हृदय पर जादू का प्रभाव डाल रहा था। मानो पावों को मिट्टी की जंजीर खींच रही थी। एक पड़ाव शेष था कि वीरमदेव ने जीतसिंह से हंसकर कहा, "आज हमारी स्त्री बहुत व्याकुल हो रही होगी।"

जीतसिंह ने सुना तो चौंक पड़ा और आश्चर्य से बोला, "आप विवाहित हैं क्या ?"

वीरमदेव ने बेपरवाही से उत्तर दिया, "हां, मेरे विवाह को पांच वर्ष हो गए।"

जीतसिंह का चेहरा लाल हो गया। कुछ क्षणों तक वह चुप रहा, परन्तु फिर न रह सका, क्रोध से चिल्लाकर बोला, "बड़े हृदयशून्य हो, तुम्हें ऐसा न समझता था।"

वीरमदेव कल्पना के जगत् में सुख के महल बना रहे थे। यह सुनकर उनका स्वप्न टूट गया। घबराकर बोले, "जीतसिंह, यह क्या कहते हो ?"

जीतसिंह अकड़कर खड़ा हो गया और तनकर बोला, "समरभूमि में तुमने पराजय दी है परन्तु वचन निबाहने में तुम मुझसे बहुत पीछे हो। बाल्यावस्था में मेरी-तुम्हारी प्रतिज्ञा हुई थी। वह प्रतिज्ञा मेरे हृदय में वैसी की वैसी बनी हुई है, परन्तु तुमने अपने पतित हृदय की तृप्ति के लिए नया बाग और नया पुष्प चुन लिया है। अब से पहले मैं समझता था कि मैं तुमसे पराजित हुआ, परन्तु अब मेरा सिर ऊंचा है, क्योंकि तुम मुझसे कई गुना अधिक नीचे हो। पराजय लज्जा है, परन्तु प्रेम की प्रतिज्ञा को पूरा न करना पतन का कारण है।"

वीरमदेव यह वक्तृता सुनकर सन्नाटे में आ गए और आश्चर्य से बोले, "तुम कौन हो ? मैंने तुमको अभी तक नहीं पहचाना।"

"मैं...मैं सुलक्षणा हूं।"

विरमदेव के नेत्रों से परदा हट गया और उनको यह अतीत काल स्मरण हुआ, जब वे दिन-रात सुलक्षणा के साथ खेलते रहा करते थे। इकट्ठे फूल चुनते, इकट्ठे मंदिर में जाते और इकट्ठे पूजा करते थे। चन्द्रदेव की शुभ्र ज्योत्स्ना में वे एक स्वर से मधुर गीत गाया करते थे और प्रेम की प्रतिज्ञाएं किया करते थे। परन्तु अब वे दिन बीत चुके थे, सुलक्षणा और वीरमदेव के मध्य में एक विशाल नदी का पाट था।

सुलक्षणा ने कहा, "वीरमदेव ! प्रेम के पश्चात् दूसरा दर्जा प्रतिकार का है। तुम प्रेम का अमृत पी चुके हो, अब प्रतिकार के विषपान के लिए होंठों को तैयार करो।"

वीरमदेव उत्तर में कुछ कहना चाहते थे कि सुलक्षणा क्रोध से होंठ चबाती हुई खेमे से बाहर निकल गई, और वीरमदेव चुपचाप बैठे रह गए।

दूसरे दिन कलानौर के दुर्ग से घनगर्जन शब्द ने नगरवासियों को सूचना दी—वीरमदेव आते हैं; स्वागत की तैयारियां करो।

हरदेवसिंह ने पुत्र का मस्तक चूमा। राजवती आरती का थाल लेकर द्वार पर आई कि वीरमदेव ने धीरता से झूमते हुए दरवाजे में प्रवेश किया। परन्तु अभी आरती न उतारने पाई थी कि एक बिल्ली टांगों के नीचे से निकल गई और थाल भूमि पर आ पड़ा। राजवती का हृदय धड़क गया। वीरमदेव को पूर्व-घटना याद आ गई।

अभी सफलगढ की विजय पुरानी न हुई थी, अभी वीरमदेव की वीरता की साख लोगों को भूलने न पाई थी कि कलानौर को अलाउद्दीन के सिपाहियों ने घेर लिया। लोग चकित थे, परन्तु वीरमदेव जानते थे कि यह आग सुलक्षणा की लगाई हुई है।

कलानौर यद्यपि साधारण दुर्ग था, परन्तु इससे वीरमदेव ने मन

नहीं हार दिया। सफ़लगढ की नूतन विजय से उनके साहस बढे हुए थे। अलाउद्दीन पर उनको असीम क्रोध था—मैंने उसकी कितनी सेवा की, इतनी दूर की कठिन यात्रा करके पठानों से दुर्ग छीनकर दिया, अपने प्राणों के समान प्यारे राजपूतों का रक्त पानी की तरह बहा दिया और उसके बदले में जागीरों के स्थान में यह अपमान प्राप्त हुआ है !

परन्तु राजवती को सफलगढ की विजय और वीरमदेव के आगमन से इतनी प्रसन्नता न हुई थी, जितनी आज हुई। आज उसके नेत्रों मे आनन्द की झलक थी और चेहरे पर अभिमान तथा गौरव का रंग। वीरमदेव भूले हुए थे, अलाउद्दीन ने उन्हें शिक्षा देनी चाही है। पराधीनता की विजय से स्वाधीनता की पराजय सहस्र गुना अच्छी है। पहले उसे ग्लानियुक्त प्रसन्नता थी—अब हर्षयुक्त भय। पहले उसका मन रोता था, परन्तु आंखें छिपती थी। आज उसका हृदय हसता था और आंखें मुस्कराती थी। वह इठलाती हुई पति के सम्मुख गई और बोली, "क्या सकल्प है ?"

वीरमदेव जोश और क्रोध से दीवाने हो रहे थे, झल्लाकर बोले, "मैं अलाउद्दीन के दात खट्टे कर दूगा।"

राजवती ने कहा, "जीवननाथ ! आज मेरे उजडे हुए हृदय में आनन्द की नदी उमडी हुई है।"

"क्यो ?"

"क्योकि आज आप स्वाधीन राजपूतो की नाईं बोल रहे हैं। आज आप वे नही हैं, जो पन्द्रह दिन पहले थे। उस समय और आज मे महान अन्तर हो गया है। उस दिन आप पराधीन चेतनग्राही थे, आज एक स्वाधीन सिपाही हैं। उस दिन आप शाही प्रसन्नता के अभिलाषी थे, आज उसके समान स्वाधीन हैं। उस दिन आपको सुख-सम्पत्ति की आकांक्षा थी, आज आन की धुन है। उस समय आप नीचे जा रहे थे, आज आप ऊपर उठ रहे हैं।"

राजवती के ये गौरव-भरे शब्द सुनकर वीरमदेव उछल पड़े, और राजवती को गले लगाकर बोले, "राजवती ! तुमने मेरे मन में बिजली भर दी है। तुम्हारे ये शब्द रणक्षेत्र में मेरे मन को उत्साह दिलाते हुए मुझे लड़ाएंगे। दुर्ग तुम्हारे अर्पण है।"

दुन्दुभि पर चोट पड़ी, राजपूतों के दिल खिल गए। माताओं ने पुत्रों को हंसते हुए विदा किया। बहिनों ने भाइयों को तलवारें बांधीं, स्त्रियां स्वामियों से हंस-हंसकर गले मिलीं, परन्तु मन में उद्विग्नता भरी हुई थी। कौन जाने, फिर मिलाप हो न हो।

दुर्ग के कुछ अन्तर पर नदी बहती थी। राजपूत उसके तट पर डट गए। सेनापति की सम्मति थी कि हमको नदी के इस पार रहकर शाही सेना को पार होने से रोकना चाहिए, परन्तु वीरमदेव जोश में पागल हो रहे थे। उन्होंने कहा, "हम नदी के उस पार शाही सेना से युद्ध करेंगे और सिद्ध कर देंगे कि राजपूतों का बाहुबल शाही सेना की शक्ति से कहीं अधिक है।

राजपूतों ने महादेव की जय के जयकारे बोलते हुए नदी को पार किया, और वे शाही सेना से जुट गए।

राजपूत शाही सेना की अपेक्षा थोड़े थे, परन्तु उनके साहस बढ़े हुए थे, और राजपूत बराबर आगे बढ़ रहे थे, ऐसा प्रतीत होता था मानो शाही सेना पर राजपूतों की निर्भीकता और वीरता ने जादू कर दिया हो। परन्तु यह अवस्था अधिक समय तक स्थिर न रही। शाही सेना राजपूतों की अपेक्षा कई गुना अधिक थी, इसलिए संध्या होते-होते पासा पलट गया। राजपूतों को नदी के इस पार आना पड़ा।

इससे वीरमदेव को बहुत आघात पहुंचा। उन्होंने रात को एक ओजस्विनी वक्तृता दी, और राजपूतों के पूर्वजों के साखे सुना-सुनाकर उनको उत्तेजित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूतों ने क्रुद्ध सिंहों के समान तैरकर दूसरे दिन नदी पार करने की प्रतिज्ञा की। परन्तु

मनुष्य कुछ सोचता है, परमात्मा की कुछ और इच्छा होती है। इधर यह विचार हो रहे थे, उधर मुसलमान भी सोए हुए न थे। उन्होंने कलमा पढ़कर कसम खाई कि मारते-मारते मर जाएंगे, परन्तु पीठ न दिखाएंगे। मुट्ठी-भर राजपूतों से हारना सख्त कायरता है। लोग क्या कहेंगे? यह 'लोग क्या कहेंगे' का भय लोगों से बहुत कुछ करवा देता है।

प्रातःकाल हुआ तो लड़ाके वीर फिर आमने-सामने हुए और लोहे से लोहा बजने लगा। वीरमदेव की तलवार गजब ढा रही थी। वे जिधर झुकते थे, परे के परे साफ कर देते थे। उनकी रण-दक्षता से राजपूत सेना प्रसन्न हो रही थी, परन्तु मुसलमानो के हृदय बैठे जाते थे। यह मनुष्य है या देव; जो न मृत्यु से भय खाता है, न घावों से पीड़ित होता है। जिधर झुकता है, विजयलक्ष्मी फूलों की वर्षा करती है। जिधर जाता है, सफलता साथ जाती है। इससे युद्ध करना लोहे के चने चबाना है। शाही सेना नदी के दूसरे पार चली गई।

वीरमदेव ने राजपूतो के बढ़े हुए साहस देखे तो गद्गद हो गए; सिपाहियों से कहा, "मेरे पीछे-पीछे आ जाओ!" और आप घोड़ा नदी में डाल दिया, इस साहस और वीरता पर मुसलमान आश्चर्य-चकित हो रहे; परन्तु अभी उनका विस्मय कम न हुआ था कि राजपूत किनारे पर आ गए, और तुमुल संग्राम आरम्भ हो गया। मुसलमान सेना लड़ती थी रोटी के लिए, उसके पैर उखड़ गए। राजपूत लड़ते थे मातृभूमि के लिए, विजयी हुए। शाही सेना में भगदड़ मच गई, सिपाही समर-भूमि छोड़ने लगे। वीरमदेव के सिपाहियों ने पीछा करना चाहा, परन्तु वीरमदेव ने रोक दिया। भागते शत्रु पर आक्रमण करना वीरता नही, पाप है। और जो यह नीच कर्म करेगा, मैं उसका मुह देखना पसन्द न करूंगा।

विजयी सेना कलानौर में प्रविष्ट हुई। स्त्रियों ने उनपर पुष्प

बरसाएं, लोगों ने रात को दीपमाला की। राजवती ने मुस्कराती हुई आंखों से वीरमदेव का स्वागत किया और उनके कंठ में विजयमाला डाली—वीरमदेव ने राजवती को गले लगा लिया और कहा—मुझे तुझपर मान है, तू राजपूतानियों में सिरमौर है।

इस पराजय ने अलाउद्दीन के हृदय की भड़कती हुई अग्नि पर तेल का काम किया। उसने चारों ओर से सेना एकत्रित की और चालीस हज़ार मनुष्यों से कन्नानौर को घेर लिया। वीरमदेव अब मैदान में निकलकर लड़ना नीति-विरुद्ध समझ दुर्ग में दुबक रहे।

दुर्ग बहुत दृढ़ और ऊंचा था, उसमें प्रवेश करना असंभव था। शाही सेना ने पड़ाव डाल दिया और वह रसद के समाप्त होने की प्रतीक्षा करने लगी। सात मास व्यतीत हो गए, शाही सेना निरन्तर डेरा डाले पड़ी रही। दुर्ग में रसद घटने लगी। वीरमदेव ने राजवती से कहा, "प्रिये! अब क्या होगा?"

राजवती बोली, "आपका क्या विचार है?"

वीरमदेव ने उत्तर दिया, "शाही सेना बहुत अधिक है। इससे छुटकारा पाना असभव है। परन्तु यह सब युद्ध मेरे लिए है, गेहूं के साथ घुन भी पिसेंगे, यह क्यों?"

राजवती ने आश्चर्य से सिर ऊपर किया और कहा, "यह क्या जीवन-नाथ! क्या शाही सेना आपको पाकर दुर्ग की ईंट से ईंट न बजा देगी?"

वीरमदेव ने ठंडी सांस भरी और कहा, "नहीं, अलाउद्दीन कन्नानौर नहीं, वरन् मुझे चाहता है।"

"और यदि वह आपको प्राप्त कर ले, तो दुर्ग पर अधिकार न जमाएगा?"

"यह नहीं कहा जा सकता। हां, यदि मैं अपने-आपको शाही सेना के अर्पण कर दूं, तो संभव है, सेना हटा ली जाए।"

राजवती ने मन ही मन सोचा, 'यदि कलानौर को भय नही, तो हमारे लिए इतना रक्त बहाने की क्या आवश्यकता है ?'

वीरमदेव ने कहा, "प्रिये ! तुम राजपूत स्त्री हो ?"

"हा।"

"राजपूत मरने-मारने को उद्यत रहते हैं ?"

"हा।"

"जाति पर प्राण निछावर कर सकते हैं ?"

"हा।"

"मैं तुम्हारी वीरता की परीक्षा करना चाहता हू।"

राजवती ने संदेह-भरी दृष्टि से पति की ओर देखा और धीमे से स्वर में कहा, "मैं उद्यत हू।"

वीरमदेव ने कुछ देर सोचकर कहा, "इस युद्ध को समाप्त करना तुम्हारे वश मे है।"

राजवती समझ न सकी कि इसका क्या अभिप्राय है; चकित-सी होकर बोली, "किस तरह ?"

"तुम्हे अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु बलिदान करनी होगी।"

"वह क्या ?"

"मुझे गिरफ्तार करा दो, निर्दोष बच जाएगे।"

राजवती का कलेजा हिल गया, रोकर बोली, "प्राणनाथ ! मेरा मन कैसे मानेगा ?"

"राजपूत की आन निभाओ।"

राजवती ने कहा, "आपकी इच्छा सिर-आखो पर, परन्तु यह बोझ असह्य है।"

वीरमदेव ने प्रसन्न होकर राजवती को गले लगा लिया और मुह चूमकर वे बाहर चले गए। राजवती भूमि पर लेटकर रोने लगी।

दो घटे के पश्चात दुर्ग मे एक तीर गिरा, जिसके साथ कागज

लिपटा हुआ था। हरदेवसिंह ने खोलकर देखा। लिखा था, "हम सिवाय वीरमदेव के कुछ नहीं चाहते। उसे पाकर तत्काल घेरा उठा लेंगे।"

यह पढ़कर हरदेवसिंह का हृदय सूख गया। वीरमदेव को बुलाकर बोले, "क्या तुमने मुसलमान सेना को कोई संदेश भेजा था?"

"हां, क्या उत्तर आया है?"

हरदेवसिंह ने कागज वीरमदेव को दिया और फूट-फूटकर रोने लगे। रोते-रोते बोले, "बेटा! यह क्या? तुमने यह क्या संकल्प किया है? अपने को गिरफ्तार करा दोगे?"

वीरमदेव ने उत्तर दिया, "पिताजी! यह सब कुछ केवल मेरे लिए है। यदि आन का प्रश्न होता, दुर्ग की संरक्षा का प्रश्न होता, तो बच्चा-बच्चा न्योछावर होता, मुझे आशंका न थी। परन्तु अब कैसे चुप रहूं, यह सब रक्तपात केवल मेरे लिए है। यह नहीं सहा जाता!"

उस रात्रि के अंधकार में दुर्ग का फाटक खुला और वीरमदेव ने अपने-आपको मुसलमान सेनापति के अर्पण कर दिया। प्रातःकाल सेना ने दुर्ग का घिराव हटा लिया।

स्त्री का हृदय भी विचित्र वस्तु है। वह आज प्यार करती है, कल दुत्कार देती है। प्यार की खातिर स्त्री सब कुछ करने को तैयार हो जाती है, परन्तु प्रतिकार के लिए उससे भी अधिक भयानक कर्म कर बैठती है।

सुलक्षणा असामान्य स्त्री थी। उसके हृदय में बाल्यावस्था से वीरमदेव की मूर्ति विराज रही थी। उसे प्राप्त करने के लिए वह पुरुष के वेश में पठानों के साथ मिलकर वीरमदेव की सेना से लड़ी और इस वीरता से लड़ी कि वीरमदेव उसपर मुग्ध हो गए। परन्तु जब उसे पता लगा कि मेरा स्वप्न भंग हो गया है, तो उसने क्रोध के वशीभूत हो भयंकर कर्म करने का निश्चय कर लिया। अनेक यत्नों के पश्चात् वह अलाउद्दीन के पास गई। अलाउद्दीन पर जादू हो गया। सुलक्षणा अतीव

सुन्दरी थी। अलाउद्दीन विलासी मनुष्य था, प्रेम-कटारी चल गई। सुलक्षणा ने जब देखा कि अलाउद्दीन बस में है, तो उसने प्रस्ताव किया कि यदि आप वीरमदेव का सिर मुझे मंगवा दें, तो मैं आपको और आपके दीन को स्वीकार कर लूंगी। अलाउद्दीन ने इसको स्वीकार किया। इस अन्तर में सुलक्षणा के निवास के लिए पृथक् महल खाली कर दिया गया।

आठ माह के पश्चात् सुलक्षणा के पास संदेश पहुंचा कि कल प्रातःकाल वीरमदेव का सिर उसके पास पहुंच जाएगा। सुलक्षणा ने शान्ति का श्वास लिया। अब प्रेम की प्यास बुझ गई। जिसने मुझे तुच्छ समझकर ठुकराया था, मैं उसके सिर को ठोकर मारूंगी। वीरमदेव ने मुझे तुच्छ स्त्री समझा, परन्तु यह विचार न किया कि स्त्री देश-भर का नाश कर सकती है। प्रेम भयानक है, परन्तु प्रतिकार उससे भी अधिक भयंकर है। सुलक्षणा हसी। इस हंसी में प्रतिकार का निर्दय भाव छिपा हुआ था।

विचार आया, मरने से पहले उसे एक बार देखना चाहिए। वह उस दुर्दशा में लज्जित होगा। सहायता के लिए प्रार्थना करेगा। मैं गौरव से सिर ऊंचा करूंगी, वह पृथ्वी मे घुसता जाएगा; मेरी ओर देखेगा, परन्तु करुण दृष्टि से। उस दृष्टि पर खिलखिलाकर हस देने पर उसे अपनी और मेरी अवस्था का ज्ञान होगा।

इतने में बादशाह सलामत आए। सुलक्षणा के मन की इच्छा पूरी हुई। कुआं प्यासे के पास आया। बादशाह ने देखा, सुलक्षणा सादी पोशाक में है। इसपर सुन्दरता उससे फूट-फूटकर निकल रही है। हंसकर बोले, "सादगी के आलम में यह हाल है, तो जेवर पहनकर बिलकुल ही गजब हो जाएगा। कहो, तबीयत अच्छी है?"

सुलक्षणा ने लजाकर उत्तर दिया, "जी हां, परमात्मा की कृपा से।"

"तुम्हारी चीज़ कल सुबह तुम्हारे पास पहुंच जाएगी।"

"मैं बहुत कृतज्ञ हूं; परन्तु एक प्रार्थना है, आशा है आप स्वीकार करेंगे।"

अलाउद्दीन ने सुलक्षणा के चेहरे की ओर देखते हुए कहा, "क्या आज्ञा है?"

"मैं वीरमदेव से एक बार साक्षात् करना चाहती हूं। प्रातःकाल से पहले एक बार भेंट करने की इच्छा है।"

अलाउद्दीन ने सोचा, चिड़िया जाल में फंस चुकी है, जाती कहां है! वीरमदेव को चिढ़ाना चाहती है, इसमें हर्ज की बात नहीं।—यह विचारकर उन्होंने कहा, "तुम्हारी बात मंजूर है। लेकिन अब निकाह जल्द हो जाना चाहिए।"

सुलक्षणा ने उत्तर दिया, "घबराइए नहीं, अब दो-चार दिन की बात है।"

बादशाह ने अंगूठी सुलक्षणा को दी कि दारोगा को दिखाकर वीरमदेव से मिल लेना और आप प्रसन्न होते हुए महल को रवाना हो गए।

सुलक्षणा ने नवीन वस्त्र पहने, मांग मोतियों से भरवाई, शरीर पर आभूषण अलंकृत किए और वह दर्पण के सामने जा खड़ी हुई। उसने अपना रूप सहस्रों बार देखा था, परन्तु आज वह अप्सरा प्रतीत होती थी। कमरे में बहुत-सी सुन्दर मूर्तियां थीं, एक-एक करके सबके साथ उसने अपनी तुलना की, पर हृदय में एक भी न जमी। अभिमान सौन्दर्य का कटाक्ष है। सुलक्षणा अपने रूप के मद में मतवाली होकर झूमने लगी। सुलक्षणा ने सोचा, 'क्या वीरमदेव हृदय से शून्य है? यदि नहीं, तो क्या वह मुझे देखकर फड़क न उठेगा? अपनी की हुई उपेक्षाओं के लिए पश्चात्ताप न करेगा? प्रेम सब कुछ सह लेता है, परन्तु

उपेक्षा नही सह सकता।' परन्तु थोड़े समय पश्चात् दूसरा विचार हुआ, 'यह क्या ? अब प्रेम का समय बीत चुका, प्रतिकार का समय आया है। वीरमदेव का दोष साधारण नही है। उसे उसकी भूल सुझानी चाहिए। यह शृगार किसके लिए है ? मैं वीरमदेव के घावो पर नमक छिडकने चली हू, उसे अपनी सुन्दरता दिखाने नही चली।'

यह सोचकर उसने वस्त्र उतार लिए, वीरमदेव को जलाने के लिए मुसलमानी वस्त्र पहनकर पालकी में बैठ गई।

रात्रि का समय था, गगन-मडल तारो से जगमगा रहा था। सुलक्षणा बुरका पहने हुए कैदखाने के दरवाज़े पर गई और बोली, "दारोगा कहा है ?"

सिपाहियो ने कहारो के साथ शाही कर्मचारी देखकर आदर से उत्तर दिया, "हम उन्हे अभी बुला लाते हैं।"

सुलक्षणा ने नर्मी से कहा, "इसकी आवश्यकता नही, मैं वीरमदेव को देख लूगी, कैदखाने का दरवाजा खोल दो।"

सिपाही काप गए और बोले, "यह हमारी शक्ति से बाहर है।"

सुलक्षणा ने कडककर कहा, "आज्ञा पालन करो। तुम रानी सुलक्षणा की आज्ञा सुन रहे हो। यह देखो, शाही अगूठी है।"

रानी सुलक्षणा का नाम राजधानी के बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर था। कोई उसके गौरवर्ण का अनुमोदक था, कोई रसीले नयनो का। कोई गुलाब-से गालो का, कोई पखडियो-से होठो का। जब से उसने अलाउद्दीन पर विजय पाई थी, तब से उसकी सुन्दरता की कल्पित कहानिया घर-घर म प्रसिद्ध हो रही थी। उसे किसीने नही देखा, फिर भी कोई ऐसा न था, जो इस बात की डीग मारकर मित्रो म प्रसन्न न होता हो कि उसने सुलक्षणा को देखा है।

सिपाहियो ने सुलक्षणा का नाम सुना और शाही अगूठी देखी, तो उनके प्राण सूख गए। कापते हुए बोले, "जो आज्ञा हो, हम हाजिर

हैं।" यह कहकर उन्होंने कैदखाने का दरवाजा खोल दिया और वे दीपक लेकर उस कोठरी की ओर रवाना हुए, जिसमें अभागा वीरमदेव अपने जीवन की अंतिम रात्रि के श्वास पूरे कर रहा था। सुलक्षणा के पैर लड़खड़ाने लगे। अब वह सामने होगा, जिसकी कभी मन में आराधना किया करती थी। आज उसे वध की आज्ञा सुनाने चली हूं।

सिपाहियों ने धुंधला-सा दीपक दीवार पर रख दिया और आप दरवाजा बन्द करके बाहर चले गए। सुलक्षणा ने देखा, वीरमदेव फर्श पर बैठा हुआ है और मृत्यु के घंटे की प्रतीक्षा कर रहा है। सुलक्षणा के हृदय पर चोट पहुंची। राजपूत कुलभूषण है और धर्म पर स्थिर रहकर जाति पर न्योछावर हो रहा है। मैं भ्रष्टा होकर अपनी जाति के एक बहुमूल्य व्यक्ति के प्राण ले रही हूं। यह मर जाएगा तो स्वर्ग के द्वार इसके स्वागत के लिए खुल जाएंगे। मैं जीवित रहूंगी, परन्तु नरक के पथ में नीचे उतरती जाऊंगी। इसके नाम पर लोग श्रद्धा के पुष्प चढ़ाएंगे, मेरे नाम पर सदा धिक्कार पड़ेगी। यह मैंने क्या कर दिया! जिससे प्रेम करती थी, जिसके नाम की माला जपती थी, जिसकी मूर्ति मेरा उपास्य देव थी, जिसके स्वप्न देखती थी, उसे शाप कहकर मरवाने चली हूं? जिस सिर को अपना सिरमौर समझती थी, उसे नेत्र कटा हुआ कैसे देखेंगे! सुलक्षणा की आंखों से आंसुओं की धार बह निकली। प्रेम की जली हुई अग्नि जल उठी। सोया हुआ स्नेह जागरित हो पड़ा। हृदय में पहला प्रेम लहराने लगा; नेत्रों में पहला प्रेम झलकने लगा। सुलक्षणा की नींद खुल गई।

सुलक्षणा लड़खड़ाते हुए पैरों से आगे बढ़ी, परन्तु हृदय कांपने लगा। पैर आगे करती थी, परन्तु मन पीछे रहता था। वीरमदेव ने सिर उठाकर देखा, तो अचम्भे में आ गए और आश्चर्य से बोले, "सुलक्षणा! यह क्या? क्या प्रेम का प्रतिकार धर्म, न्याय और जाति का रुधिरपान करके भी तृप्त नहीं हुआ, जो ऐसी अंधियारी रात्रि में यहां

आई हो ?"

सुलक्षणा की आखो से आसुओ का फव्वारा उछल पडा, परन्तु वह पी गई। उसे आज ज्ञान हुआ कि मैं कितनी पतित हो गई हू, तथापि सभलकर बोली, "नही, अभी मन शांत नही हुआ।"

"क्या मागती हो ? कहो, मैं देने को उद्यत हू।"

"इसीमे यहा आई हू, मेरे घाव का मरहम तुम्हारे पास है।"

वीरमदेव ने समझा, मेरा सिर लेने आई है। सुनकर बोले, "मरहम यहा कहा है, मैं तो स्वय घाव बन रहा हू, परन्तु तुम जो कहोगी उससे पीछे न रहूगा।"

सुलक्षणा ने अपना मुह दोनो हाथो से ढाप लिया, वह फूट-फूटकर रोने लगी। रोने के पश्चात् हाथ जोडकर बोली, "तुमने एक बार मेरा हृदय तोडा है, अब प्रतिज्ञा भग न करना।"

वीरमदेव को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होने मन में सोचा, हो न हो, यह अपने किए पर लज्जित हो रही है और यह बचाव का उपाय ढूढती है। आश्चर्य नही, मुझसे क्षमा मागती हो। गभीरता से पूछा, "क्या कहती हो ?"

सुलक्षणा ने विनती करके कहा, "मेरे वस्त्र पहनो और यहा से निकल जाओ।"

वीरमदेव ने घृणा से मुह फेर लिया और कहा, "मै राजपूत हू।"

सुलक्षणा ने रोकर उत्तर दिया, "तुम इस विपत्ति मे फसे हो। जब तक मैं स्वय तुमको यहा से न निकाल दू, तब तक मेरे मन को शाति न होगी। तुमने घाव पर मरहम रखने की प्रतिज्ञा की है। राजपूत प्रतिज्ञा भग नही करते। देखो इन्कार न करो, सिर न हिलाओ, मैंने पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त करने दो।"

स्त्री का अन्तिम शस्त्र रोना है। जहा सब यत्न व्यर्थ हो जाते हैं वहा यह युक्ति सफल होती है। सुलक्षणा को रोते हुए देखकर वीरमदेव

नर्म हो गए और धीरे से बोले, "इसमें दो बातें शंकनीय हैं। पहली तो यह कि तुम मुसलमान हो चुकी हो; यह वस्त्र मैं नहीं पहन सकता। दूसरे मैं निकल गया, तो मेरी विपत्ति तुमपर टूट पड़ेगी।"

सुलक्षणा ने उत्तर दिया, "मैं अभी तक अपने धर्म पर स्थिर हूं। यह वस्त्र तुम्हारे जलाने के लिए पहने थे, परन्तु अब अपने किए पर लज्जित हूं। इसलिए तुम्हें यह शंका न होनी चाहिए।"

"और दूसरी बात ?"

"मुझे तनिक भी कष्ट न होगा। मैं सहज में ही प्रातःकाल छूट जाऊंगी।"

सुलक्षणा ने झूठ बोला, परन्तु यह झूठ अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए था। यह पाप था, परन्तु ऐसा पाप, जिसपर सैकड़ों पुण्य निछावर किए जा सकते हैं। वीरमदेव को विवश होकर उसके प्रस्ताव के साथ सहमत होना पड़ा।

जब उन्होंने वस्त्र बदल लिए, तो सुलक्षणा ने कहा, "यह अंगूठी दिखा देना।"

वीरमदेव बुरका पहनकर निकले। सुलक्षणा ने शान्ति का श्वास लिया। वह पिशाचिनी से देवी बनी। बुराई और भलाई में एक पग का अन्तर है।

सुलक्षणा की आंखें अब खुलीं, और उसे ज्ञान हुआ कि मैं क्या करने लगी थी, कैसा घोर पाप, कैसा अत्याचार! राजपूतों के नाम को कलंक लग जाता। आर्य स्त्रियों का गौरव मिट जाता! सीता-रुक्मिणी की आन जाती रहती। क्या प्रेम का परिणाम कर्म-धर्म का विनाश है ? क्या जो प्रेम करता है, वह हत्या भी कर सकता है ? क्या जिसके मन में प्रेम के फूल खिलते हैं, वहां उजाड़ भी हो सकता है ? क्या जहा प्रीति की चांदनी खिलती है, जहां आत्मबलिदान के तारे चमकते हैं,

वहां अंधकार भी हो सकता है ? जहां स्नेह की गंगा बहती है, जहां स्वार्थ-त्याग की तरंगें उठती हैं, वहां रक्त की पिपासा भी रह सकती है ? जहां अमृत हो, वहां विष की क्या आवश्यकता है ? जहां माधुर्य हो, वहां कटुता का निवास क्योंकर ? स्त्री प्रेम करती है, सुख देने के लिए। मैंने प्रेम किया, सुख लेने के लिए। प्रकृति के प्रतिकूल कौन चल सकता है ? मेरे भाग्य फूट गए हैं। परन्तु जिनसे मेरा प्रेम है, उनका क्यों बाल बांका हो ? प्रेम का मार्ग विकट है, इसपर चलना विरले मनुष्यों का काम है। जो अपने प्राणों को हथेली पर रख ले, वह प्रेम का अधिकारी है।

जो संसार के कठिन से कठिन काम करने को उद्यत हो, वह प्रेम का अधिकारी है। प्रेम बलिदान सिखाता है, हिसाब नहीं सिखाता। प्रेम मस्तिष्क को नहीं हृदय को छूता है। मैंने प्रेम-पथ पर पैर रखा, फल मुझे मिलना चाहिए। वीरमदेव ने विवाह किया, पति बना, संतानवान हुआ, अब उसको पहले प्रेम की बातें सुनाना, मूर्खता नहीं तो क्या है ! मैंने पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त करूंगी। रोग की ओषधि कड़वी होती है।

इतने में कैदखाने का दरवाज़ा खुला। पिछले पहर का समय था। आकाश में तारागण लोप हो गए थे। कैदखाने का दीपक बुझ गया। और कमरे में सुलक्षणा के निराश हृदय के समान अंधकार छा गया। घातक धीरे-धीरे पैर रखता हुआ कैदखाने में घुसा। सुलक्षणा समझ गई, प्रायश्चित्त का समय आ गया है। उसने कम्बल को लपेट लिया और चुपचाप लेट गई। घातक के हाथ में दीपक था, उसने ऊंचा करके देखा, कैदी सो रहा है। पाप-कर्म अंधकार में ही किए जाते हैं।

जल्लाद धीरे से आगे बढ़ा और सुलक्षणा के पास बैठ गया। उसने कम्बल सरकाकर उसका गला नंगा किया और उसपर छुरी फेर दी।

सुलक्षणा ने अपने रक्त से प्रायश्चित्त किया। आप मरकर हृदयेश्वर को बचाया। जिसके रुधिर की प्यासी हो रही थी, जिसकी मृत्यु पर आनन्द मनाना चाहती थी, उसकी रक्षा के लिए सुलक्षणा ने अपना जीवन न्योछावर कर दिया। प्रेम के खेल निराले हैं।

पिछले पहर का समय था। उषाकाल की पहली रेखा आकाश पर टूट पड़ी। जल्लाद सिर को लपेटे हुए अलाउद्दीन के पास पहुंचा और झुककर बोला, "वीरमदेव का सिर हाज़िर है।"

अलाउद्दीन ने कहा, "कपड़ा उतारो।"

जल्लाद ने कपड़ा हटाया। एक बिजली कौंध गई! अलाउद्दीन कुर्सी से उछल पड़ा। यह वीरमदेव का नहीं सुलक्षणा का सिर था। अलाउद्दीन बहुत हताश हुआ। कितने समय के पश्चात् आशा की श्यामल भूमि आई थी, परन्तु देखते ही देखते निराशा में बदल गई!

राजपूतानी के प्रतिकार का कैसा हृदयवेधक दृश्य था! प्रेम-जाल में फंसी हुई हिन्दू स्त्री का प्रभावपूर्ण बलिदान, पतित होनेवाली आत्मा का पश्चात्ताप!

यह समाचार कलानौर पहुंचा, तो इसपर शोक किया गया, और वीरमदेव कई दिन तक रोते रहे। राजवती ने एक मन्दिर बनवाकर उसके ऊपर सुलक्षणा का नाम खुदवा दिया। अब न वीरमदेव इस लोक में हैं न राजवती, परन्तु वह मन्दिर अभी तक विद्यमान है, और लोगों को राजपूतानी के भयकर प्रायश्चित्त का स्मरण करा रहा है।

घीसा

[महादेवी वर्मा]

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सपूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाव के उस मलिन, सहमे, नन्हे-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती थी जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गगा-पार झूसी के खडहर और उसके आसपास के गावो के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है, उसे देखकर ही सभवत लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यग्य करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात। जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट मित्रो से मिलने, उत्सवो मे सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसीको मैं इस खडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणो पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नही, सुख से काट देती हू।

कह नही सकती, कब और कैसे मुझे उस गाव के बालको को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारी के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चन्दे की अपील के और साराश यह कि बिना किसी चिरपरिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड की घनी छाया मे मेरे चारो ओर एकत्र हो आए तब मैं

बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गंभीरताका भार वहन कर सकी ।

और वे जिज्ञासु कैसे थे, सो कैसे बताऊं! कुछ कानों में बालियां और हाथ में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊंची धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पांव तक लम्बा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खड़े किए हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टांगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे, मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आंखों में संसार-भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति से अकेला ही आता है।

वह गोधूलि मुझे अब तक नही भूली। संध्या के लाल-सुनहली आभावाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज, कलम आदि संभालकर नाव पर रखकर बढ़ते अंधकार पर खिजलाकर बुदबुदा रही थी। नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अंधकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। कन्धे पर हाथ रखकर वह दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाए हुए थी। उसने रुक-रुककर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नही है। दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूं तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबककर बैठे हुए देखा। पक्का रंग, पर गठन में और अधिक सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आंखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कसकर बन्द किए हुए पतले होंठों की दृढ़ता और सिर पर

खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हुई हड्डियोंवाली गर्दन को संभाले हुए झुके कंधों से, रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनोंयुक्त हाथोंवाली पतली बांहें ऐसे झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बननेवाले की दो नकली भुजाएं। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर मे दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे। बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुजाइश, न शरीर मे।

पर उसकी सचेत आंखों मे न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थी। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उसका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिचे-खिचे-से रहते थे। इसीलिए नही कि वह कोरी था वरन् इसलिए कि किसीकी मा, किसीकी नानी, किसीकी बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितात आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़कर समझा दी थी—यह भी उन्हीने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नही रहा। घर में कोई देखने-भालनेवाला न होने के कारण मा उसे बदरिया के बच्चे के समान चिपकाए फिरती थी। उसे एक ओर लिटाकर जब वह मजदूरी के काम मे लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिटकर बालक ससार मे प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रिया भी मुझे आते-जाते रोककर अनेक प्रकार की भाव-भगिमा के साथ एक चित्रित साकेतिक भाषा में घीसा की जन्मजात अयोग्यता का परिचय देने लगी। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी न जाना।

उसका बाप था कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़कर वह थोड़ी

बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गांव से युवती वधू लाकर उसने अपने गांव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसीसे जब गांव के चौखट-किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने ठाट-बाट से रहना आरंभ किया, तब अचानक हैज़े के बहाने वह वहां बुला लिया गया जहां न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गांव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने उदारतावश ही उसकी जीवननैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीता[1] भी कर दिया। और बिना स्वर-ताल के आंसू गिराकर, बाल खोलकर, चूड़ियां फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहनकर उसने बड़े घर की विधवा का स्वांग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उसपर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाए, जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसीसे यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंचकर एक साल की अवधि तक पहुंच गया तो इसमें गांववालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर, कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का

---

[1] तिक्त

भी प्रभाव उसपर न था क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गंभीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसीसे कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी मां से उसे मांग ले आऊं और अपने पास रखकर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूं—परन्तु उस उपेक्षिता, पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी, यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्बल हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरुभक्ति देखकर उसकी मातृभक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं परिस्थितियों में रहा जहां क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनीचर के दिन ही वह अपने छोटे, दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को मां के मजदूरी पर जाते ही एक मैले-फटे कपड़े में बंधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने-बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आंखों पर क्षीण सांवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टांगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए ही साथियों को सुनाने के लिए 'गुरु साहब, गुरु साहब' करता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुंच जाता, जहां न जाने कितनी बार दुहराए-तिहराए हुए कार्यक्रम की एक अंतिम

आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतारकर बार-बार झाड़-पोंछकर बिछाई जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे कांच की दवात, अपने टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे-हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकालकर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र-पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहां पहुंच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े-से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, यह चित्रों के एलबम के समान निरंतर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नही भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किए हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगाजी में मुह इस तरह धो आए थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पांव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बास न बाजेगी बासुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीच से मैले फटे कुरते घर ही छोड़कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है, गए अचम्भा कौन!' की घोषणा करते जान पडते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के कानाफूसी करने या एकसाथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़कर समझना पड़ा कि घीसा मा से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—मा को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार

ने 'नाज' लेकर साबुन दिया नही। कल रात को मा को पैसे मिले और आज सबेरे काम छोड़कर पहले साबुन लेने गई। अभी लौटी है; अतः घीसा कपड़े धो रहा है, क्योकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपडे पहनकर आना। और अभागे के पास कपडे ही क्या थे! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता, जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अगोछे जैसा फटा टुकडा। जब घीसा नहाकर गीला अगोछा लपेटे और आधा भीगा हुआ कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने खडा हुआ तब आंखें ही नही मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियो के लिए पाच-छः सेर जलेबिया ले गई, पर कुछ तोलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवानेवाले की समझदारी से और कुछ वहा छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाच से अधिक न मिल सकी। एक कहता था, मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया, मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर मे सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गई। पर इस कोलाहल मे अपने हिस्से की जलेबिया लेकर घीसा कहा खिसक गया, यह कोई न जान सका। थोडी देर बाद घीसा लौटा। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखईवाले छन्ने में दो जलेबिया लपेटकर वह भाई के लिए छप्पर मे खोंस आया है, एक उसने पाले हुए, बिना मा के कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वय खा ली। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी सकोच-भरी आखें झुक गईं—होठ कुछ खिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दे।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति मे ऐसे गहरे रंगो से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नही। उन दिनो हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक

पहुंच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी, परन्तु देखभाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी मां स्वयं बैठी रही, फिर एक अन्धी बुढ़िया को बिठाकर काम पर जाने लगी।

इतवार की सांझ को मैं यथाक्रम बच्चों को विदा दे घीसा को देखने चली, परन्तु पीपल से पचास पग दूर पहुंचते न पहुंचते उसीको डगमगाते पैरों से गिरते-गिरते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था; अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत्-सी दौड़ रही थी, आंखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हलकी आंच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वातग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था; पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियां की आजी से मांगना ठीक न समझकर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौटकर दरवाज़े से ही अधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे होले-होले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धरकर यहीं पड़ा रहेगा, पर पार किसी तरह न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुंचना था ही, पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझाकर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाए। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग

भर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठकर दूर-दूर से आए हुए बहुत-से विद्यार्थी हैं जो अपनी मा के पास साल-भर में एक ही बार पहुच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जाएगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नही—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साझ को अपनी माई के पास नही जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवानजी गुस्सा हो जाएगे क्योकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते है, आदि-आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लानेवाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटाकर मैं लौटी तब मेरे मन मे कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियो को बाधकर उन्मत्त के समान घूमनेवाली गर्मी की हवा से उसका रोज सग्राम छिडने लगा—झाडते-झाडते ही वह पाठशाला धूलि-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तो की चादर मे छिपकर, तथा ककाल-शेष शाखाओ मे उलझते, सूखे पत्तो को पुकारते वायु की सतप्त सर-सर से मुखरित होकर उस श्रान्त बालक को चिढाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सध्या समय तक वहा रहने का निश्चय किया, परतु पता चला कि घीसा किरकिराती आखो को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाडता हुआ दिन-भर वही पेड के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भग करने के लिए ही लू के झोके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाई छूने के लिए दौडते हुए

बालक के समान आटकर उस दिन पर उंगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था, तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियां रखकर गिने जाएं या कोयले की लकीरें खींचकर ? कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठों की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैं उसे खोज न पाई। जब मैं कुछ चिंतित-सी वहां से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आंखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आपरेशन की संभावना थी। कब लौटूंगी या नहीं लौटूंगी, यही सोचते-सोचते मैंने फिरकर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली तो वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंटकर वहीं उलझ रही।

मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा, यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देनी है—यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था, इसमें संदेह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूलि में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में संभाले था, जिसमें बीच में कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत् ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बंद गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था, न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का सारा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मुहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चित हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवानजी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने मे न जाने क्यो देर हो गई तब उसे अकेले खेत पर जाना पडा। वहा खेतवाले का लडका था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्राय. सुना-सुनाकर कहता रहता था कि जिनकी भूख झूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगानेवाले पागल होते हैं। उसने कहा, पैसा नही है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता! इससे कुरता दे आया। पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नही, क्योकि गर्मी मे वह कुरता पहनता ही नही और आने-जाने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पडा—मीठा है या नही यह देखने के लिए उगली से कुछ निकाल भी लेना पडा।

गुरु साहब न ले तो घीसा रात-भर रोएगा—छुट्टी-भर रोएगा, ले जाए तो वह रोज नहा-धोकर पेड के नीचे पढा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिखकर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह मे प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नही; परन्तु उस दक्षिणा के सामने ससार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गए। इस बीच मे उसका कोई समाचार न

मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवानजी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है, पर सम्भव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर-भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूंगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूंढ़ती रहूं।

प्रेमचन्द का महत्त्व

[हजारीप्रसाद द्विवेदी]

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गांव में एक निर्धन परिवार मे हुआ था। उन्होने आधुनिक शिक्षा नही पाई थी, बटोरकर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहां तक पहुंच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इन्सपेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुंच चुके थे। महात्मा गांधी की पुकार पर उन्होने सरकारी नौकरी छोड़ दी और अंतिम घड़ी तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए। फिर भी वे अपने काल मे समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। आप चाहे तो इस घटना से उस समाज की साहित्यिक कद्रदानी का भी अन्दाज लगा सकते है जिसका सर्वश्रेष्ठ वे संसार को सुनाने के लिए व्याकुल थे। उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा। बीमारी की हालत मे भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कमजोर शरीर को लिखने के लिए मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते, "मैं मजदूर हूं, मजदूरी किए बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नही।" उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाकद्रदान समाज के प्रति एक व्यंग्य भी। लेकिन असल मे वे इसलिए नहीं लिखते थे कि उन्हे मजदूरी करना लाजिमी था, बल्कि इसलिए

कि उनके दिमाग में कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थीं कि वे उन्हें प्रकट किए बिना रह ही नहीं सकते थे। उनके हृदय में इतनी वेदनाएं, इतने विद्रोह-भाव, इतनी चिनगारियां भरी थीं कि वे उन्हें संभाल नहीं सकते थे। उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद और भी पहले बन्धन तोड़ देते। विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था। वे बड़े सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे। उनके ग्रन्थ इस बात के प्रमाण हैं। ऊपर-ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के साथ तुलना करने पर वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखनेवाले थे। लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे ज़बान थे। उन्हें भी देखते थे, इसलिए अपने को निर्धन समझकर 'हाय-हाय' नहीं करते थे। इसको वे वरदान समझते थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, फिर भी इस युग के साहित्यिकों में मानव की सद्वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था, वैसा शायद ही और किसीका हो। असल में यह नास्तिकता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे। 'गोदान' नामक अपने अन्तिम उपन्यास में अपने एक पात्र के मुंह से वे मानो अपनी ही बात कह रहे हों, "जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इसपर तो मुझे हंसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहां जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है,

यही ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष है और उपासना है। ज्ञानी कहता है, होठों पर मुस्कराहट न आए, आंखो मे आंसू न आएं। मैं कहता हूं, अगर तुम हंस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नही, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नही, कोल्हू है।" ऐसे थे प्रेमचन्द—जिन्होंने ढोंग को कभी बर्दाश्त नही किया, जिन्होंने समाज को सुधारने की बड़ी-बड़ी बातें सुझाईं ही नही, स्वयं उन्हें व्यवहार मे लाए; जो मनसा-वाचा एक थे, जिनका विनय आत्माभिमान का, सकोच महत्त्व का, निर्धनता निर्भीकता का, एकांत-प्रियता, विश्वानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था; जो समाज की जटिलताओं की तह मे जाकर उसकी टीमटाम और भरभडपन का पर्दाफाश करने में आनन्द पाते थे और जो दरिद्र किसान के अन्दर आत्मबल का उद्घाटन करने को अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे; जिन्हें कठिनाइयो से जूझने मे मजा आता था; जो तरस खानेवाले पर दया की मुस्कराहट बिखेर देते थे; जो ढोंग करनेवाले को कसके व्यंग्यबाण मारते थे और जो निष्कपट मनुष्यो के चेरे हो जाया करते थे। जो मानो अपने विषय मे कहते थे, "जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर मे उनके लिए स्थान नही है। यहां उन उपासकों की आवश्यकता है जिन्होंने अपने जीवन की सार्थकता सेवा में ही मान ली हो, जिनके दिल मे दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारा पांव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यो सतावे? और इनके न मिलने पर हम निराश क्यो हो? हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उसपर रोब जमाने की हविस क्यो हो? "हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही है और सादी जिन्दगी के साथ ऊंची निगाह हमारा लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का

प्रेमी नहीं हो सकता; उसे अपनी मनःतुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं, उसमें तो उसे घृणा होती है।"

प्रेमचन्द आत्माराम थे।

प्रेमचंद शताब्दियों से पद-दलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज़ थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे। गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर उत्तरभारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको निःसंशय बता सकता हूं कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको दूसरा नहीं मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गांव-पंचायतों से लेकर धारा-सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्ण और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचंद का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता[1] को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगे को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैंकरों को, साहसपरायण चमारिन को, ढोंगी पंडित को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं और निश्चित होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है, उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्प्रदायों से लद नहीं गए हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गंवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल रखते हैं और न्याय के प्रति अधिक सम्मान दिखाते हैं, जो

---

[1] वेश्या

शिक्षित हैं, जो सुसस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी है। लेकिन यह बात जानकर आप प्रेमचन्द को गलत न समझें। पश्चिम मे महायुद्ध के बाद जो 'प्रिमिटिविज्म' की हवा बही है, जिसमें यह वकालत की जाती है कि सभ्यता की ओर अग्रसर होना ही गलती है, जो मेक्सिको के सभ्यताहीन आदिमाध्युषित अचलो मे जा छिपने को ही त्राण का एकमात्र रास्ता समझते हैं, जो पीछे की ओर लौटना ही श्रेयस्कर मानते हैं, उन प्रतिक्रिया-पथियो की पगत मे प्रेमचन्द को नही बैठाया जा सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की सद्वृत्तियो मे विश्वास करते हैं। मनुष्य की दुर्वृत्तियो को वे अजेय तो समझते ही नही। उनको भाव-रूप मे स्वीकार करते हैं या नही, इसीमे सन्देह है। वे मानते है कि जडोन्मुखी सभ्यता ने हमे जडता को ही प्रधान मानने की ओर प्रवृत्त किया है। हमने टीमटाम को, भीड-भब्भड को, दिखाव-बनाव को और दुनिया-दौलत को प्रधानता दी है। ये वस्तुए मनुष्य को न तो महान बनाती हैं और न क्षुद्र, परन्तु ये मनुष्य के मन को दुर्बल बना देती हैं, आत्मा को अशक्त बना देती है। आत्मबल हरएक व्यक्ति मे है, पर जड-पूजा की अधिकता से वह अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए जो जितना त्याग कर सकता है अर्थात् जो जितना इस जडिमा के बन्धन को तोड सकता है वह उतना ही महान हो जाता है, आत्मबल के बाधक कुश-कटक को उखाड फेंकने मे वह उतना ही सफल होता है। जिनके पास ये बन्धन जितने ही कम होते हैं वे उतनी ही जल्दी सत्यपरायण हो जाते हैं। 'रगभूमि' का सूरदास शिक्षित और धनी विनय की अपेक्षा शीघ्र और स्थायी आत्मबल का अधिकारी है और ठीक यही बात 'गबन' के कुजडे और किसान-स्त्री के सम्बन्ध मे लागू होती है। स्त्रियो में वह शक्ति पुरुषो की अपेक्षा अधिक होती है, क्योंकि वे पुरुषो के समान जड-शिक्षा और जड-सम्पदा के बन्धनो से कम बधी रहती हैं।

प्रेमचन्द ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरतअंगेज कल्पना ही की। वे ईमानदारी के साथ वर्तमान काल की अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने देखा कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। एक बार अगर ये किसान, ये गरीब यह अनुभव कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नहीं दबा सकती तो ये निश्चय ही अजेय हो जाएं। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखाई दिए। भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिंता से बचने के लिए संगृहीत ईंट-पत्थरों का स्तूप। एक का नाम है संस्कृति, दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथवाहक है धर्म और दूसरे का राजनीति। प्रेमचंद इन दोनों को मनुष्यता के विकास का बाधक मानते हैं।

प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता[1] का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहां सेवा और त्याग नहीं वहां प्रेम भी नहीं है। वहां वासना का प्राबल्य[2] है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है, अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।

प्रेमचन्द ने बहुत विस्तृत क्षेत्र का चित्रण किया है। कहते हैं, उन्होंने निम्न श्रेणी और मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को ही सफलतापूर्वक चित्रित किया है। उच्च श्रेणी के चरित्रों को चित्रित करने में वे उतने सफल नहीं रहे। मैं ठीक नहीं जानता, मैं उस श्रेणी से ठीक-ठीक परिचित नहीं हूं। अगर आपमें से कोई उस श्रेणी के जानकार हों तो स्वयं इस बात की जांच करें, परंतु मैं इतना तो कह ही सकता हूं कि

---

1. तामस होने का भाव 2. प्रबलता

उनके अधिकांश पात्र उसी श्रेणी के हैं जिनके चित्रण मे उन्हें समर्थ बताया गया है और निम्न श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों से आपके यथार्थ परिचय का अर्थ है देश की वास्तविक समस्याओं की जानकारी। उन्हें जानकर ही आप अपनी ताकत का अन्दाजा लगा सकते हैं। फिर वही ऐसे हैं जो शताब्दियो तक केवल उपेक्षित और पददलित ही नही रहे, परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे। हजारो वर्ष के भारतीय साहित्य मे इनकी आशाओं, आकांक्षाओं, सुख-दुखों और सूझ-बूझों की चर्चा नही के बराबर हुई है। ये ही हैं जो भारतवर्ष के मेरुदण्ड हैं, जिनके बनने-बिगड़ने पर हमारा और इसीलिए सारे संसार का बनना-बिगड़ना निर्भर है। अगर आप शहर के रहनेवाले रईस हैं तो आपको एक अत्यन्त आश्चर्योद्रिचक[1] नवीन जगत् का परिचय मिलेगा। और अगर मेरे समान गाव के निवासी हैं तो विश्वास कीजिए आपको अपने सहवासियो को देखने के लिए नई आंख मिलेगी। आप इन हाड़-मांस की जीवित प्रतिमाओ से परिचय पाकर किसी प्रकार ठगे नही जाएंगे।

लेकिन आप प्रेमचन्द मे यदि किसी नये आदर्श की आशा करेंगे तो आपको निराश होना पड़ेगा। उन्होने देश की मौलिक समस्याओं के समाधान का उपाय बताया, परन्तु आप शायद इन आदर्शों के लिए ऋणी होने को, मेरे ही समान, दोष हेतु नही मानेंगे और प्रेमचन्द की वास्तविक विशेषता का फिर भी सम्मान कर सकेंगे। जिस विचित्र युग में हम वास कर रहे है उसमे देश-विदेश के इतने आदर्शों से टकराना पड़ता है कि एकाध नये आदर्शों के और मिल जाने से हमे कुतूहल नही होता और न मिलने से कोई पश्चाताप भी नही होता। हम जब आदर्शों को जीवन मे व्यवहृत[2] देखते हैं तो हमारी कुतूहल-वृत्ति जरूर आकृष्ट होती है। गांधी मे हमने आदर्शों को इसी जीवन्त रूप मे

---

1. आश्चर्य बढ़ानेवाला 2 व्यवहार मे आते हुए

देखा है और प्रेमचन्द के पात्रों में हम आदर्शों और कल्पनाओं को इसी जीवन्त रूप में पाते है। यह जीवन में ढालकर आदर्श को सरस और हृदयग्राही बना देना ही प्रेमचन्द की विशेषता है। यह जीवन ही उनकी कृतियों में सर्वत्र छलकता हुआ मिलता है। ओषधियां घर-बाहर सर्वत्र हैं, कुछ को हम जानते हैं, कुछ को नहीं जानते; पर जानते हों या न जानते हों, हम गाय के कृतज्ञ जरूर होंगे जिसने इन ओषधियों को अपने जीवन में ढालकर सरस दूध करके हमारे सामने रखा। हम आदर्शों को जीवन से छानकर सामने रखनेवाले प्रेमचन्द के भी निश्चय ही कृतज्ञ होंगे।

विज्ञान का सदुपयोग और दुरुपयोग

[पं० जवाहरलाल नेहरू]

मानव-जीवन सदा प्रगति करता रहता है, प्रकृति की और विश्व की समस्याओ से सदा जूझता रहता है और उन्हें समझने का प्रयत्न करता रहता है, और जो बातें मैं आज तुम्हें बतला रहा हू वे कल ही बिलकुल अपर्याप्त और असामयिक हो सकती हैं। मनुष्य के दिमाग की यह चुनौती किस प्रकार ब्रह्माड के दूरतम कोनो में उड़ानें भरती है और उसके रहस्यो का पता लगाने का प्रयत्न करती है और महान से महान तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म दिखाई देनेवाली वस्तुओ को पकड़ने और मापने का साहस करती है, यह देखकर मन मुग्ध हो जाता है।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है, अर्थात् वह विज्ञान, जिसका जीवन पर कोई सीधा या तात्कालिक प्रभाव नही पड़ता। यह प्रत्यक्ष है कि सापेक्षवाद, या 'देश-काल' की कल्पना, या ब्रह्माड का आकार, इनका हमारे दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार की अधिकतर कल्पनाए उच्च श्रेणी के गणित पर निर्भर है और इस अर्थ में गणित के ये जटिल तथा उच्चप्रदेश विशुद्ध विज्ञान है। अधिकतर लोगो को इस प्रकार के विज्ञान में ज्यादा दिलचस्पी नही है, वे तो दैनिक जीवन मे विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगो की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं, और यह स्वाभाविक भी है। इसी व्यावहारिक विज्ञान ने पिछले डेढ सौ वर्षों मे जीवन मे क्रातिकारी परिवर्तन पैदा कर दिया है। सच तो यह है कि आज का जीवन विज्ञान की इन शाखा-प्रशाखाओ से ही

पूरी तरह संचालित होता है और बनता-बिगड़ता है; और इसके बिना जीवन-यापन की कल्पना करना हमारे लिए कठिन है। लोग अक्सर अतीत के बीते हुए अच्छे दिनों की, या विगत स्वर्णयुग की बात चलाया करते हैं। विगत इतिहास के कुछ जमाने निराले तौर पर चित्ताकर्षक हैं और सम्भव है कि कुछ बातों में वे हमारे जमाने से श्रेष्ठ भी हों। परन्तु यह आकर्षण भी जितना शायद दूरी के कारण या एक खास धुंधलेपन के कारण है उतना अन्य किसी वस्तु के कारण नहीं है। किसी युग को हम शायद इस कारण महान समझते हैं कि कुछ महान व्यक्तियों ने उसे सुशोभित किया या उसमें उनकी प्रधानता रही। इतिहास में शुरू से लगाकर अब तक साधारण जनता की अवस्था बड़ी शोचनीय रही है। विज्ञान ने युग-युगान्तर का उनका भार कुछ हलका किया है। अगर तुम अपने चारो ओर निगाह डालो तो देखोगे कि जिन वस्तुओं को तुम देख सकते हो, उसमें से अधिकांश का विज्ञान के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध है। हम व्यावहारिक विज्ञान के साधनों द्वारा यात्रा करते हैं, इन्हीके द्वारा एक-दूसरेको समाचार भेजते हैं, हमारे भोजन की वस्तुएं भी अक्सर इन्ही साधनों से तैयार होती हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती है। जो अखबार हम पढते हैं, या हमारी पुस्तकें, या जिस कागज़ पर मैं लिख रहा हूं, या जिस कलम से लिख रहा हूं, ये सब चीज़ें विज्ञान के साधनों के अलावा अन्य प्रकार से तैयार ही नहीं हो सकती। सार्वजनिक सफाई और स्वास्थ्य तथा कुछ रोगों पर विजय विज्ञान ही पर निर्भर है। आधुनिक संसार के लिए व्यावहारिक विज्ञान के बिना काम चलाना बिलकुल असंभव है। बाकी तमाम दलीलें छोड़ भी दी जाए तो एक दलील अन्तिम और निर्णायक[1] है—विज्ञान की सहायता के बिना संसार के निवासियो को पर्याप्त भोजन नहीं मिल सकेगा और आधे से अधिक लोग भरपेट भोजन न मिलने से

---

[1] निर्णय करनेवाली

मौत के मुह मे चले जाएगे। मैं बतला चुका हूं कि विगत सौ वर्षों में आबादी किस तरह छलाग मारकर बढ़ गई है। यह बढ़ी हुई आबादी तभी जीवित रह सकती है जब खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने के लिए उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए विज्ञान की सहायता ली जाए।

जब से विज्ञान ने मानव-जीवन मे बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रवेश कराया है, तभी से उनमें सुधार करने की प्रक्रिया निरन्तर चली आ रही है। मशीनो को अधिक कारगर और मनुष्य की मेहनत पर कम निर्भर बनाने के लिए हर साल तो क्या हर महीने अनगिनत छोटे-छोटे फेर-बदल होते रहते हैं। यान्त्रिक-कला मे ये सुधार, या यन्त्र-शास्त्र में ये प्रगतिया, बीसवी सदी के पिछले तीस वर्षों मे तो खास तेजी के साथ हुई हैं। गत वर्षों मे परिवर्तन की यह गति, जो अब भी चालू है, इतनी जबरदस्त रही है कि इसने उद्योगो तथा उत्पादन के साधनो मे वैसा ही क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया है, जैसाकि अठारहवी सदी के उत्तरार्ध मे औद्योगिक क्राति के कारण हुआ था। उत्पादन के कार्यों मे बिजली का निरन्तर बढ़ता हुआ उपयोग इस क्रातिकारी परिवर्तन का बड़ा कारण है। इस प्रकार बीसवी सदी मे, खासकर सयुक्त राज्य अमेरिका मे महान विद्युत्-क्राति हुई है और इसके फलस्वरूप जीवन की परिस्थितिया ही बिलकुल बदल गई है—इस प्रकार अठारहवी सदी की औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप अब शक्ति-युग का प्रादुर्भाव हो रहा है; उद्योगो, रेलो तथा अन्य अनगिनत प्रयोजनो के लिए उपयोग मे आनेवाली विद्युत्-शक्ति अब हर चीज पर हावी हो रही है। यही कारण था कि लेनिन ने बड़े दूर की सोचकर सारे रूस मे जल-बिजली के विशाल बिजलीघर बनाने का निश्चय किया था।

अन्य सुधारो के साथ-साथ उद्योगो मे विद्युत्-शक्ति के इस उपयोग के फलस्वरूप बिना अधिक खर्च के ही महान परिवर्तन हो जाता है।

मसलन, बिजली से चलनेवाली मशीनों में जरा-सी फेर-बदल से उत्पादन दुगना हो जाता है। इसका बहुत बड़ा कारण मानव-उत्पादन का उत्तरोत्तर कम किया जाना है, क्योंकि मनुष्य धीरे-धीरे काम करता है और कभी-कभी भूल भी कर बैठता है। इसीलिए ज्यों-ज्यों मशीनों में उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उनपर काम करनेवाले मजदूरों की संख्या कम होती जाती है। आजकल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थों को घुमाकर, कुछ बटनों को दबाकर बड़ी-बड़ी मशीनों का संचालन करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कारखानों में तैयार होनेवाले माल का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ जाता है और साथ ही कारखानों के बहुत-से मजदूर निकाल दिए जाते हैं, क्योंकि अब उनकी जरूरत नहीं रहती। इसीके साथ-साथ यंत्र-शास्त्र में इतनी तेजी से प्रगति हो रही है कि कोई नई मशीन कारखानों में लगने भी नहीं पाती कि नये सुधारों के कारण वह कुछ हद तक पुराने ढंग की हो जाती है।

मजदूरों के स्थान पर मशीनों के लगाए जाने का यह सिलसिला मशीनों के प्रारम्भ काल से ही चला आ रहा है। शायद मैं तुम्हें बतला चुका हूं कि उन दिनों बहुत दंगे हुए थे और क्रोधित मजदूरों ने नई मशीनें तोड़-फोड़ डाली थी। परन्तु बाद में मालूम हुआ कि आखिरकार मशीनों के कारण अधिक लोगों को काम मिलता है। चूंकि मशीन की सहायता से मजदूर अधिक माल तैयार कर सकता था, इसलिए उसकी मजदूरी की दर ऊंची हो गई और चीजों की कीमतें गिर गईं। इससे मजदूर तथा साधारण लोग इन चीजों को ज्यादा खरीद सकते थे। उनके रहन-सहन के ढंग भी पहले से अच्छे हो गए, और कारखानों के बने माल की मांग बढ़ने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि अधिकाधिक कारखाने खोले जाने लगे, और उनमें अधिकाधिक मजदूर काम पर लगाए गए। मतलब यह कि यद्यपि मशीनों ने हर कारखाने में मजदूरों की संख्या कम कर दी, पर समग्र रूप में पहले से भी अधिक मजदूर काम पर लग

गए, क्योकि कारखानो की सख्या बहुत बढ गई।

यह सिलसिला मुद्दत तक चलता रहा, क्योकि उद्योग-प्रधान देशो द्वारा पिछडे हुए देशो की दूरवर्ती मडियो पर कब्जा करने से इसमे सहायता मिली। मगर पिछले कुछ वर्षों में यह सिलसिला बन्द हो गया मालूम देता है। शायद वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था मे और अधिक विस्तार सम्भव नही है, और इस व्यवस्था म कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गया है। आधुनिक उद्योग 'सामूहिक उत्पादन' के पीछे पडा हुआ है, परन्तु यह तभी चल सकता है जब इस प्रकार तैयार हुआ माल जनसमूह द्वारा खरीदा जाए। अगर जनता बहुत गरीब है या बहुत बेरोजगार है, तो वह इस माल को नही खरीद सकती।

परन्तु इसके बावजूद यान्त्रिक उन्नति निरन्तर हो रही है और इसका नतीजा यह हो रहा है कि मशीनें मजदूरो का स्थान लेती जा रही हैं और बेकारो की सख्या बढा रही हैं। सन् 1929 ई० से सारी दुनिया में व्यापार की भारी मन्दी हो रही है, परन्तु इतने पर भी यन्त्र-शास्त्र की उन्नति नही रुकी है। कहते हैं कि सन् 1929 ई० से अब तक सयुक्त राज्य अमेरिका में इतनी यान्त्रिक उन्नति हुई है कि जो लाखो आदमी बेकार हो गए हैं उन्हें कभी काम पर लगाया ही नही जा सकता, चाहे उत्पादन सन् 1929 ई० के बराबर ही क्यो न कायम रखा जाए।

सारे ससार में और खासकर उन्नत उद्योग-प्रधान देशो मे, बेकारी की महान समस्या उत्पन्न करनेवाले और भी अनेक कारण हैं, पर यह एक बडा कारण है। यह एक निराली और औंधी समस्या है, क्योकि नवीनतम मशीनो के द्वारा बहुत अधिक उत्पादन का परिणाम यह होना चाहिए कि राष्ट्र अधिक मालदार हो जाए और हरेक मनुष्य के जीवन का स्तर ऊचा उठ जाए। परन्तु इसके विपरीत इसका परिणाम हुआ है गरीबी और भयकर मुसीबत। सवाल

होता है कि इस समस्या का वैज्ञानिक हल कठिन नहीं होगा। शायद कठिन है भी नहीं। परन्तु असली कठिनाई इसे वैज्ञानिक और उचित ढंग पर हल करने के प्रयत्न में उपस्थित होती है। क्योंकि ऐसा करने में अनेक निहित स्वार्थों पर चोट पड़ती है, और ये स्वार्थ इतने बलशाली हैं कि अपनी-अपनी सरकारों पर इनका पूरा नियंत्रण है। इसके अलावा यह समस्या जड़ में अन्तर्राष्ट्रीय है, और आज की राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाएं कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकलने नहीं देतीं। सोवियत रूस इसी प्रकार की समस्याओं का हल करने में वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग कर रहा है। परन्तु चूंकि उसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चलना पड़ता है, और बाकी दुनिया पूंजीवादी है तथा रूस से शत्रुता रखती है, इसलिए उसकी कठिनाइयां अधिक हैं। अगर यह बात न होती तो ये कठिनाइयां इतनी अधिक न होतीं। आज का संसार मूलतः अंतर्राष्ट्रीय है, यद्यपि उसका राजनीतिक ढांचा पिछड़ा हुआ है और संकीर्ण राष्ट्रीयता से भरा हुआ है। स्थायी रूप से समाजवाद तभी सफल हो सकता है जब वह अन्तर्राष्ट्रीय जागतिक[1] समाजवाद बन जाए। समय को पीछे नहीं ढकेला जा सकता। इसी प्रकार आज का अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा अपूर्ण होते हुए भी, राष्ट्रीय अलगाव के पक्ष में नहीं दबाया जा सकता। राष्ट्रीयतावाद को तीव्र करने का प्रयत्न जैसाकि फासिस्टों द्वारा विभिन्न देशों में हो रहा है, अंत में असफल हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि यह आज की जागतिक अर्थ-व्यवस्था के मौलिक अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के प्रतिकूल जाता है। यह हो सकता है कि इस प्रकार असफल होकर वह सारी दुनिया को अपने साथ ले बैठे, और इस तथाकथित आधुनिक सभ्यता को सार्वभौम विपत्ति में फंसा दे।

इस प्रकार की विपत्ति का खतरा न तो कोई दूर की बात है और न अविचारणीय। जैसाकि हम देख रहे हैं, विज्ञान अपने पीछे अनेक

---

[1] जगत् का

अच्छी चीजें लेकर आया है, परन्तु इसी विज्ञान ने युद्ध की वीभत्सता को भयकर रूप मे बढा दिया है। राज्यो और सरकारो ने विशुद्ध अथवा व्यावहारिक विज्ञान की अनेक शाखाओ की उपेक्षा की है। परन्तु उन्होने विज्ञान के सामरिक पहलू की उपेक्षा नही की है और अपने-आपको हथियारो से लैस करने के लिए और अपना बल बढाने के लिए विज्ञान की नवीनतम व्यावहारिक कला का पूरा उपयोग किया है। सारी स्थिति का अतिम विश्लेषण यह है कि अधिकाश राज्यो का सहारा पशुबल है, और वैज्ञानिक कला इन हुकूमतो को इतना बलवान बना रही है कि वे परिणामो से बिलकुल न डरकर जनता पर मनमाने अत्याचार कर सकती हैं। वह पुराना जमाना बहुत दिन हुए बीत चुका जब जनता अत्याचारी हुकूमतो के विरुद्ध उपद्रव किया करती थी और आम रास्तो में नाकेबन्दी करके लडा करती थी, जैसाकि फ्रास की महान क्राति मे हुआ था। अब किसी निहत्थी या हथियारबद भीड़ के लिए राज्य के सुसगठित और सुसज्जित सैन्यबल से लडना असभव हो गया है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना खुद ही विद्रोह कर दे, जैसाकि रूसी क्राति के समय मे हुआ था, परन्तु जब तक ऐसी घटना न हो, तब तक राज्य को बल से परास्त नही किया जा सकता। इस कारण आजादी के लिए प्रयत्नशील कौमो को यह जरूरत आ पडी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के अन्य शातिपूर्ण उपायो का आश्रय लें।

इस प्रकार विज्ञान के कारण राज्यो की बागडोर गिरोहो या कुछ चुने हुए लोगो के हाथो मे चली गई है, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का तथा उन्नीसवी सदी के पुराने लोकतत्री विचारो का हनन हो रहा है। कभी तो ये हुकूमतें लोकतत्र के सिद्धातो की महत्ता को स्वीकार करने का ढोग रचती हैं, और कभी उनकी खुली निन्दा करती है। विभिन्न राज्यो की ये गिने-चुने लोगो की हुकूमतें आपस मे टक्कर खाती हैं, और राष्ट्रो मे युद्ध छिड जाता है। इसकी पूरी सम्भावना

नजर आती है कि आज या भविष्य में ऐसा महायुद्ध केवल इन गिने-चुने लोगों की हुकूमतों को ही नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता तक को विनष्ट कर देगा। यह भी सम्भव है कि इस युद्धाग्नि की राख में से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो जाए, जिसकी मार्क्सवादी दर्शन में विश्वास रखनेवाले बाट देख रहे हैं।

युद्ध की बीभत्स वास्तविकताओं की कल्पना करना कोई रुचिकर विषय नहीं है। और इसी कारण इस वास्तविकता को लच्छेदार शब्दों और उत्साहवर्धक बाजों और चमक-दमकवाली वर्दियों के परदे में छिपाया जाता है। परन्तु यह जानना आवश्यक है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। गत महायुद्धो ने बहुतों को युद्ध की बीभत्सता का भान करा दिया। इसपर भी यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होनेवाला है उसकी तुलना में गत महायुद्ध कुछ भी नही था। क्योंकि गत कुछ वर्षों में जहां औद्योगिक कला ने दस गुनी उन्नति कर ली है, वहां युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी उन्नति हुई है। युद्ध अब केवल पैदल सेना के हल्लों और घुड़सवार सेना के धावों का मामला नहीं रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुडसवार आज युद्ध के लिए करीब-करीब उतने ही बेकार हो गए हैं जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध यांत्रिक टैंकों और वायुयानो और बमो का, और खासकर पिछली दो चीज़ों का मसला है। वायुयानो की गति और कार्यक्षमता दिन पर दिन तरक्की कर रही है।

अगर युद्ध छिड़ जाए तो अन्देशा है कि युद्धप्रवृत्त राष्ट्रों पर शत्रु के वायुयान तुरन्त आक्रमण कर देंगे। ये वायुयान युद्ध की घोषणा होते ही तुरन्त आ धमकेंगे या शत्रु की बेखबरी से फायदा उठाने के लिए युद्ध के पहले ही आ जाएगे और बड़े-बड़े शहरों तथा कारखानों पर घोर विस्फोटक बमों की वर्षा कर देंगे। शत्रु के कुछ वायुयान शायद नष्ट भी कर दिए जाएं, परन्तु बाकी बचे हुए वायुयान शहर पर बम

गिराने के लिए काफी होगे। इन वायुयानो से बरसनेवाले बमो से विषैली गैसें निकलकर चारो ओर फैल जाएगी और उस क्षेत्र-भर मे छा जाएगी और जहा तक ये पहुचेंगी वहा तक के सारे जीव दम घुटकर मर जाएगे। इस प्रकार नागरिक जनता का अत्यन्त क्रूरतापूर्ण और कष्टदायक तरीको से बडे भारी पैमाने पर सहार किया जाएगा, जिससे लोगो को असह्य यातना और मानसिक वेदना भुगतनी पडेगी। और सम्भव है कि इस प्रकार की कार्रवाइया परस्पर युद्ध-प्रवृत्त प्रतिद्वन्द्वी शक्तियो के बडे-बडे शहरो मे एकसाथ की जाए। अगर यूरोप मे युद्ध हुआ तो लदन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनो या हफ्तो के अन्दर शायद सुलगते हुए खडहरो के ढेर हो जाएगे।

इससे ज्यादा बुरी चीज एक और है। वायुयानो द्वारा गिराए जानेवाले बमो मे तरह-तरह के भीषण रोगो के जीवाणु या कीटाणु भी हो सकते हैं, जिससे पूरे के पूरे शहरो मे इन रोगो की छूत फैल जाएगी। इस प्रकार की 'कीटाणु युद्ध-नीति' अन्य तरीको से भी कार्यान्वित की जा सकती है। जैसे खाद्य-पदार्थों और पीने के पानी को रोगाणुयुक्त बनाकर या रोगवाहक जन्तुओ का उपयोग करके। इसका उदाहरण चूहा है जो प्लेग के कीटाणु का वाहक होता है।

ये सारी बाते राक्षसी और अनहोनी प्रतीत होती हैं, और हैं भी ऐसी ही। कोई राक्षस तक भी ऐसा करना पसन्द नही करेगा। परन्तु जब लोग पूर्णतया भयग्रस्त हो जाते हैं और जीवन-मरण की लडाई में प्रवृत्त होते हैं, तो अनहोनी घटनाए भी हो जाती हैं। शत्रु द्वारा ऐसे अनुचित और राक्षसी उपायो के अवलम्बन का भय-मात्र ही हर देश को पहला वार करने के प्रति प्रेरित कर सकता है। क्योंकि ये हथियार इतने भयकर हैं कि जो देश पहले इनका प्रयोग करेगा वह बहुत फायदे में रहेगा। भय की आखें बडी होती हैं।

विषैली गैस का तो गत महायुद्ध में सचमुच व्यापक प्रयोग किया

गया था, और यह बात बहुत लोगों को मालूम है कि सामरिक प्रयोजन के लिए इस गैस को तैयार करनेवाले बड़े-बड़े कारखाने तमाम बड़ी-बड़ी शक्तियों के पास मौजूद हैं। इन सब बातों से यह परिणाम निकलता है कि अगले महायुद्ध में असली लड़ाई युद्ध के मोर्चों पर नहीं होगी, जहां कुछ सेनाएं खंदकों में पड़ी-पड़ी आपस में लड़ती रहेंगी, बल्कि मोर्चों के पीछे शहरों में और नागरिक जनता के घरों में होगी। यहां तक हो सकता है कि युद्धकाल में सबसे सुरक्षित स्थान शायद लड़ाई का मोर्चा ही बन जाए, क्योंकि वहां पर सैनिकों की हवाई हमलों से और विषैली गैसों से और रोगाणुओं से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहेगा। परन्तु पीछे रहनेवाले पुरुषों और स्त्रियों और बच्चों के लिए इस प्रकार की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होगा।

इस सबका परिणाम क्या होगा? क्या सार्वभौम विनाश? क्या सदियों के प्रयत्नों से निर्मित संस्कृति और सभ्यता के सुन्दर भवन का अन्त?

कोई नहीं जानता कि क्या होनेवाला है। भविष्य के गर्भ में क्या छिपा है उसे हम नहीं देख सकते। आज हम देखते हैं कि संसार में दो तरह की प्रक्रियाएं चल रही हैं। ये दोनों प्रक्रियाएं प्रतिद्वन्द्वी तथा परस्पर विरोधी हैं। एक प्रक्रिया तो सहयोग तथा समझदारी की, उन्नति की और सभ्यता के भवन-निर्माण की है; दूसरी प्रक्रिया विनाशकारी है, प्रत्येक वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली है, मनुष्य-जाति के द्वारा आत्महत्या का प्रयत्न है। दोनों उत्तरोत्तर तीव्र गति से दौड़ रही हैं, दोनों विज्ञान के हथियारों और यंत्रकलाओं से अपने-आपको लैस कर रही हैं। दोनों में जीत किसकी होगी?

एक गधे की आत्मकथा

[कृश्न चन्दर]

महानुभाव ! मैं न तो कोई साधु-संन्यासी हूं; न कोई महात्मा-धर्मात्मा। न श्री 108 स्वामी गहमगहमानन्द का चेला हूं; न जड़ी-बूटियोंवाला सूफी गुरुमुखसिंह मझेला हूं। न मैं वैद्य हूं; न कोई डाक्टर। न कोई फिल्म-स्टार हूं; न राजनीतिज्ञ। मैं तो केवल एक गधा हूं, जिसे बचपन से दुष्कर्मों के कारण समाचारपत्र पढने का घातक रोग लग गया था। होते-होते यह रोग यहां तक बढ़ा कि मैंने ईंटें ढोने का काम छोड़कर केवल समाचारपत्र पढना आरम्भ कर दिया। उन दिनों मेरा मालिक धब्बू कुम्हार था, जो बाराबंकी में रहता था (जहां के गधे बहुत प्रसिद्ध हैं) और सय्यद करामतअली शाह बार-एट-ला की कोठी पर ईंटें ढोने का काम करता था। सय्यद करामतअली शाह लखनऊ के एक माने हुए बैरिस्टर थे, और अपने पैतृक नगर बाराबंकी में एक आलीशान कोठी स्वयं अपनी निगरानी में बनवा रहे थे। सय्यद साहब को पढने-लिखने का बहुत शौक था। इसलिए अपनी कोठी का जो भाग उन्होंने सबसे पहले बनवाया, वह उनकी लाइब्रेरी का हाल तथा रीडिंगरूम था, जिसमें वे प्रातःकाल आकर बैठ जाते। वे बाहर बरामदे में कुर्सी डालकर समाचारपत्र पढते और ईंटें ढोनेवालों की निगरानी भी करते रहते। उन्हीं दिनों मुझे समाचारपत्र पढने का चसका पड़ा। होता अधिकतर यों था कि इधर मैंने एक उठती हुई दीवार के नीचे ईंटें फेंकीं, उधर भागता हुआ रीडिंगरूम की ओर चला

गया। बैरिस्टर साहब समाचारपत्र पढ़ने में इतने लीन होते कि उन्हें मेरे आने की खबर तक न होती और मैं उनके पीछे खड़ा होकर समाचारपत्र का अध्ययन शुरू कर देता। बढ़ते-बढ़ते यह शौक यहां तक बढ़ा कि बहुधा मैं बैरिस्टर साहब से पहले ही समाचारपत्र पढ़ने पहुंच जाता, बल्कि प्रायः ऐसा भी हुआ है कि पत्र का पहला पन्ना मैं पढ़ रहा हूं और वे सिनेमा के विज्ञापनोंवाले पन्ने मुलाहिज़ा फर्मा रहे हैं। मैं कह रहा हूं—ओह! ईडन, आइज़नहावर, बुल्गानिन फिर मुलाकात करेंगे और वे कह रहे हैं—अहा! हज़रतगंज में दिलीपकुमार और निम्मी की नई फिल्म आ रही है। मैं कह रहा हूं—चः चः! सिकन्दरिया की हवाई दुर्घटना में बारह मुसाफिर मर गए! और वे कह रहे हैं—बाप रे बाप! सोने का भाव फिर बढ़ गया है। बस, इसी प्रकार हमारा यह सिलसिला चलता रहता; यहां तक कि मेरा मालिक ईंटें गिनकर और मिस्त्री के हवाले करके वापस आ जाता और मेरी पीठ पर जोर से एक कोड़ा मारकर मुझे फिर ईंटें ढोने के लिए ले जाता, लेकिन बैरिस्टर साहब मुझे कुछ न कहते। दूसरे फेरे में जब मैं वापस आता, तो वे स्वयं पत्र का अगला पन्ना उठाकर मुझे देते और यदि मैं पूरा पढ़ चुका होता तो भीतर लाइब्रेरी से कोई पुस्तक निकाल लाते और ज़ोर-ज़ोर से पढ़ना शुरू कर देते। यह जो मैं पढ़ना और बोलना सीखा हूं तो इसे सय्यद साहब का ही चमत्कार समझिए या उनकी कृपादृष्टि, क्योंकि सय्यद साहब का समाचारपत्र पढ़ते हुए खबरों पर बहस करने और पुस्तकों को ऊंचे स्वर में पढ़ने तथा पढ़ते हुए उनपर टिप्पणी करने की बुरी आदत थी। यहां जिस स्थान पर वे कोठी बनवा रहे थे, उन्हें कोई व्यक्ति ऐसा न मिला जिससे वे बहस कर सकते। यहां प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम में व्यस्त था। बस, मैं एक गधा उन्हें मिला। परन्तु इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। वास्तव में वे केवल बातचीत करना चाहते थे। किसीसे अपने मन की बातें कहना चाहते थे। गधे

की बजाय एक खखोदा भी उनकी संगति में रहता तो महापण्डित बन जाता। सय्यद साहब मेरे प्रति बड़ा स्नेह प्रकट करते थे और प्रायः कहा करते थे, "अफसोस, तुम गधे हो, अगर आदमी के बच्चे होते तो मैं तुम्हें अपना बेटा बना लेता!" सय्यद साहब के कोई सन्तान न थी। खैर साहब! करनी भगवान की यह हुई कि एक दिन सय्यद करामतअली शाह की कोठी तैयार हो गई और मेरे मालिक को और मुझे भी वहां के काम से छुट्टी मिल गई। फिर उसी रात धब्बू कुम्हार ने ताड़ी पीकर मुझे डंडे से खूब पीटा और घर से बाहर निकाल दिया और खाने के लिए घास भी न दी। मेरा दोष यह बताया कि मैं ईंटे कम ढोता था और समाचारपत्र अधिक पढता था, और कहा, "मुझे ईंटें ढोनेवाला गधा चाहिए, समाचारपत्र पढ़नेवाला गधा नही चाहिए।"

रात-भर भूखा-प्यासा मैं धब्बू कुम्हार के घर के बाहर शीत में ठिठुरता रहा। मैंने निश्चय कर लिया कि दिन निकलते ही सय्यद करामतअली शाह की कोठी पर जाऊंगा और उनसे कहूंगा कि ईंटें ढोने पर नही तो पुस्तकें ढोने पर ही मुझे नौकर रख लीजिए। शेक्सपियर से लेकर 'बेढब भूखी' तक मैंने प्रत्येक लेखक की पुस्तकें पढ़ी हैं, और जो कुछ मैं उन लेखकों के सम्बन्ध में जानता हू, वह कोई दूसरा गधा नही जान सकता। मुझे पूरी आशा थी कि सय्यद साहब तुरन्त मुझे रख लेंगे, लेकिन भाग्य की बात देखिए कि जब मैं सय्यद साहब की कोठी पर पहुचा तो मालूम हुआ कि रातों-रात कोठी पर फसादियो ने हमला किया और सय्यद करामतअली साहब को अपनी जान बचाकर पाकिस्तान भागना पड़ा। फसादियों मे लाहौर के गडासिह फल-विक्रेता भी थे, जिनकी लाहौरी दरवाज़े के बाहर फलों की बहुत बड़ी दुकान और माडल टाउन मे एक आलीशान कोठी थी। इस हिसाब से एक आलीशान कोठी उन्हें यहा भी मिलनी चाहिए थी, सो भगवान की कृपा से उन्हें सय्यद करामतअली शाह की नई बनी-बनाई कोठी मिल गई। जब मैं वहा पहुंचा

तो गंडासिंह लाइब्रेरी की समस्त पुस्तकें एक-एक करके बाहर फेंक रहे थे और लाइब्रेरी को फलों से भर रहे थे। यह शेक्सपियर का सेट गया और तरबूज़ों का टोकरा भीतर आया! यह गालिब के दीवान बाहर फेंके गए और मलीहाबाद के आम भीतर रखे गए! यह खलील जिबरान गए और खरबूजे आए! थोड़े समय के बाद सब पुस्तकें बाहर थीं और सब फल भीतर! अफलातू के स्थान पर आलूबुखारे, सुकरात के स्थान पर सीताफल! जोश के स्थान पर जामन, मोमिन के स्थान पर मोसम्बी, शैले के स्थान पर शहतूत, कीट्स के स्थान पर ककड़ियां, बुकरात के स्थान पर बादाम, कृश्न चन्दर के स्थान पर केले और ख० अहमद के स्थान पर नीमूं भरे हुए थे। पुस्तकों की यह दुरगत देखकर मेरी आंखों में आंसू आ गए और मैं उन्हें एक-एक करके उठाकर अपनी पीठ पर लादने लगा। इतने में गंडासिंह अपनी फलों की लाइब्रेरी से बाहर निकल आए और एक नौकर से कहने लगे, "इस गधे की पीठ पर सारी पुस्तकें लाद दो और यदि एक फेरे में न जाएं तो आठ-दस फेरे करके ये सब पुस्तकें एक लारी में भरकर लखनऊ ले जाओ और नखास में बेच डालो।" अतएव गंडासिंह के नौकर ने ऐसा ही किया। मैं दिन-भर पुस्तकें लाद-लादकर लारी तक पहुंचाता रहा और जब शाम हो गई और अन्तिम पुस्तक भी लारी में पहुंच गई, तब कहीं गंडासिंह के नौकर ने मुझे छोड़ा। मेरी पीठ पर उसने ज़ोर का एक कोड़ा जमाया और मुझे लात मारकर वहां से भगा दिया।

मैंने सोचा, 'जिस शहर में पुस्तकों तथा महापंडितों का ऐसा अनादर होता हो, वहां रहना ठीक नहीं।' इसलिए मैंने वहां से प्रस्थान का संकल्प कर लिया। अपने शहर के दरो-दीवार पर हसरत-भरी निगाह डाली; घास के दो-चार तिनके तोड़कर मुंह में रखे और दिल्ली की ओर चल खड़ा हुआ। सोचा, 'दिल्ली स्वतन्त्र भारत की राजधानी भी है और कला, विद्या, राज्यों तथा राजनीति का केन्द्र भी है। वहां

किसी न किसी प्रकार गुजारा हो ही जाएगा।'

उन दिनो 'दिल्ली चलो' का नारा प्रत्येक छोटे-बडे व्यक्ति की जबान पर था। और इस तरह से मैं भी इसी नारे से प्रभावित होकर दिल्ली जा रहा था, परन्तु यह मालूम न था कि रास्ते मे क्या विपत्ति आएगी। रास्ते मे एक स्थान पर मैंने देखा, एक मुसलमान बढई शर-अई दाढी रखे हुए एक छोटी-सी गठरी बगल में दबाए, एक छोटे-से गाव से भागकर सडक पर आ रहा था। मैंने सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे अपनी पीठ पर सवार कर लिया और तेज-तेज कदमो से चलने लगा ताकि उस गाव के फसादी उसका पीछा न कर सकें। और हुआ भी यही; मैं बहुत आगे निकल गया और मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ कि चलो, मेरे कारण एक निर्दोष की जान बच गई। इतने में क्या देखता हू कि बहुत-से फसादी रास्ता रोके खडे हैं।

एक फसादी ने हमारी ओर देखकर कहा, "देखो इस बदमाश मुसलमान को! न जाने किस बेचारे हिन्दू का गधा चुराए लिए जा रहा है।" मुसलमान बढई ने अपनी जान बचाने के लिए बहुत कुछ कहा मगर किसीने एक न सुनी। उसे फसादियो ने मौत के घाट उतार दिया। मुझे एक फसादी ने बाध लिया और अपने घर की ओर ले चला।

जब हम आगे बढे तो रास्ते में मुसलमानो के कुछ गाव पडते थे। यहा पर एक दूसरी ओर के फसादी आगे बढे। एक ने कहा, "देखो, यह बेचारा गधा किसी मुसलमान का मालूम होता है, जिसे यह हिन्दू फसादी घेरे लिए जा रहा है।" उस बेचारे ने भी अपनी जान बचाने के लिए बहुत कुछ कहा, लेकिन किसीने एक न सुनी और उसका सफाया हो गया और मैं एक मौलवी साहब के हिस्से मे आया, जो मुझे उसी रस्सी से पकडकर अपनी मस्जिद की ओर ले चले। रास्ते मे मैंने मौलवी साहब के आगे बहुत अनुनय-विनय की।

मैं—हजरत ! मुझे छोड़ दीजिए।

मौलवी—यह कैसे हो सकता है ! तुम माले-गनीमत हो।

मैं—हुजूर ! मैं माले-गनीमत नहीं हूं। गनीमत यह है कि मैं एक गधा हूं वरना अब तक मारा गया होता।

मौलवी—अच्छा, यह बताओ, तुम हिन्दू हो या मुसलमान ? फिर हम फैसला करेंगे।

मैं—हुजूर, न मैं हिन्दू हूं न मुसलमान। मैं तो बस एक गधा हूं और गधे का कोई मजहब नहीं होता।

मौलवी—मेरे सवाल का ठीक-ठीक जवाब दो।

मैं—ठीक ही तो कह रहा हूं। एक मुसलमान या हिन्दू तो गधा हो सकता है, लेकिन एक गधा मुसलमान या हिन्दू नहीं हो सकता।

मौलवी—तू बहुत बदमाश मालूम होता है। हम घर जाकर तुझे ठीक करेंगे।

मौलवी साहब ने मुझे मस्जिद के बाहर एक खूंटे से बांध दिया और स्वयं भीतर चले गए। मैंने मौका गनीमत जाना और रस्सी तोड़कर वहां से निकल भागा। ऐसे भागा, ऐसे भागा कि मीलों तक पीछे मुड़कर नहीं देखा। अब मैंने यह निश्चय कर लिया कि इन संकीर्ण-हृदय व्यक्तियों के झगड़े से एक गधे का क्या सम्बन्ध ! अब मैं न किसी हिन्दू की सहायता करूंगा न मुसलमान की ! अतएव अब मैं दिन-भर किसी वृक्ष की घनी छाया में पड़ा रहता या किसी जंगल अथवा मैदान में घास चरता रहता और रात होने पर अपनी यात्रा शुरू कर देता। इस प्रकार चलते-चलते बड़ी मुश्किल से कहीं छः-सात महीनों के बाद दिल्ली पहुंचा। दिल्ली के भूगोल का वर्णन संक्षिप्त रूप से करता हूं, ताकि दिल्ली आनेवाले यात्री मेरी जानकारी से पर्याप्त लाभ उठा सकें और धोखा न खाएं।

इसके पूर्व में शरणार्थी, पश्चिम मे शरणार्थी, दक्षिण मे शरणार्थी और उत्तर मे शरणार्थी बसते हैं। बीच मे भारत की राजधानी है और इसमे स्थान-स्थान पर सिनेमा के अतिरिक्त नपुसकता की विभिन्न औषधियो और शक्तिवर्धक गोलियो के विज्ञापन लगे हुए है; जिससे यहा की सभ्यता तथा सस्कृति की महानता का अनुभव होता है। एक बार मैं चादनीचौक के गुजर रहा था कि मैंने एक सुन्दर युवती को देखा जो तागे मे बैठी पायदान पर पाव रखे अपनी सुन्दरता के नशे में डूबी चली जा रही थी और पायदान पर विज्ञापन चिपका हुआ था, 'असली शक्तिवर्धक गोली इन्द्रसिह जलेबीवाले से खरीदिए!' मैं इस दृश्य के तीखे व्यग्य से प्रभावित हुए बिना न रह सका और बीच चादनीचौक मे खडे होकर कहकहा लगाने लगा। लोग राह चलते-चलते रुक गए और एक गधे को बीच सडक मे कहकहा लगाते देखकर हसने लगे। वे बेचारे मेरी धृष्ट आवाज पर हस रहे थे और मैं उनकी धृष्ट सभ्यता पर कहकहे लगा रहा था। इतने मे एक पुलिस के सतरी ने मुझे डडा मारकर टाउनहाल की ओर ढकेल दिया। इन लोगो को मालूम नही कि कभी-कभी गधे भी इन्सानो पर हस सकते हैं।

दिल्ली मे आनेवालो को यह याद रखना चाहिए कि दिल्ली मे प्रवेश करने के बहुत-से दरवाजे है। दिल्ली दरवाजा, अजमेरी दरवाजा, तुरकमान दरवाजा इत्यादि। परन्तु आप दिल्ली मे इनमे से किसी दरवाजे के रास्ते भीतर नही आ सकते। क्योंकि इन दरवाजो के भीतर प्राय गायें, भैंसें, बैल बैठे रहते हैं या फिर पुलिसवाले चारपाइया बिछाए ऊघते रहते हैं। हा, इन दरवाजो के दायें-बायें बहुत-सी सडकें बनी हुई है, जिनपर चलकर आप दिल्ली मे प्रवेश कर सकते हैं। अग्रेजो ने दिल्ली मे भी एक इडिया गेट बनाया है, लेकिन इस गेट से भी गुजरने का कोई रास्ता नही है। दरवाजे के इर्द-गिर्द घूम-फिरकर जाना पडता है। सभव है, दिल्ली के घरो मे भी थोडे दिनो में ऐसे दरवाजे लग जाए,

फिर लोग खिड़कियों में से कूदकर घरों में प्रवेश किया करेंगे ।

दिल्ली में नई दिल्ली है और नई दिल्ली में कनाट प्लेस है। कनाट प्लेस बड़ी सुन्दर जगह है। शाम के समय मैंने देखा कि लोग लोहे के गधों पर[1] सवार होकर इसकी गोल सड़कों पर घूम रहे हैं। यह लोहे का गधा हमसे तेज भाग सकता है, परन्तु हमारी तरह आवाज नहीं निकाल सकता। यहां पर मैंने बहुत-से लोगों को भेड़ की खाल के बालों के कपड़े पहने हुए देखा है। स्त्रियां अपने मुंह और नाखून रंगती हैं और अपने बालों को इस प्रकार ऊंचा करके बांधती हैं कि दूर से वे बिलकुल गधे के कान मालूम होते हैं। अर्थात् इन लोगों को गधे बनने का कितना शौक है, यह आज मालूम हुआ।

कनाट प्लेस से टहलता हुआ मैं इंडिया गेट चला गया। यहां चारों ओर बड़ी सुन्दर घास बिछी थी और उसकी दूब तो अत्यन्त स्वादिष्ट थी। मैं दो-तीन दिन से भूखा तो था ही, बड़े मजे से मुंह मार-मारकर चरने लगा। इतने में एक जोर का डंडा मेरी पीठ पर पड़ा। मैंने घबराकर देखा, एक पुलिस का सिपाही क्रोध-भरे स्वर में कह रहा था :

"यह कम्बख्त गधा यहां कैसे घुस आया?" मैंने पलटकर कहा, "क्यों भाई, क्या गधों को नई दिल्ली में आने की मनाही है?"

मुझे बोलता देखकर वह सटपटा गया। शायद उसने आज तक किसी गधे को बोलते नहीं सुना था। फटी-फटी आंखों से मेरी ओर देखने लगा। थोड़ी देर बाद जब उसका आश्चर्य कुछ कम हुआ, तो मुझे रस्सी से खींचकर थाने ले चला। थाने में ले जाकर उसने मुझे हेड कान्स्टेबल के सामने ला खड़ा किया।

हेड कान्स्टेबल ने बड़े आश्चर्य से उसकी ओर देखकर कहा, "इसे यहां क्यों लाए हो रामसिंह?"

रामसिंह ने कहा, "हुजूर! यह एक गधा है।"

---

[1] मोटरों पर

"गधा तो है, वह तो मैं भी देख रहा हूं, मगर तुम इसे यहां क्यों लाए हो ?"

"हुजूर, यह इंडिया गेट पर घास चर रहा था !"

"अरे, घास चर रहा था तो क्या हुआ ! तुम्हारी बुद्धि तो कहीं घास चरने नहीं चली गई ? इसे यहां क्यों लाए ? ले जाकर कांजी-हाउस[1] में बन्द कर देते। इस बेजबान जानवर को थाने में लाने की क्या जरूरत थी ?"

रामसिंह ने रुकते-रुकते मेरी ओर विजयी दृष्टि से देखकर कहा, "हुजूर, यह बेजबान नहीं है, यह बोलता है !" अब के हेड कान्स्टेबल बहुत हैरान हुआ, लेकिन पहले तो उसे विश्वास न आया; फिर बोला, "रामसिंह, तुम्हारा दिमाग तो ठीक है ?"

"नहीं, यह बिलकुल ठीक कहता है, हेड कान्स्टेबल साहब।" मैंने धीरे-से सिर हिलाकर कहा।

हेड कान्स्टेबल अपनी सीट पर से उछला, मानो उसने कोई भूत देख लिया हो। वास्तव में उसका आश्चर्य अनुचित भी नहीं था, क्योंकि नई दिल्ली में ऐसे तो बहुत लोग होंगे जो इन्सान होकर गधों की तरह बातें करते हों, लेकिन एक ऐसा गधा, जो गधा होकर इन्सानों की सी बात करे, हेड कान्स्टेबल ने आज तक देखा-सुना न था। इसलिए बेचारा चकरा गया। उसकी समझ में न आया कि क्या करे। आखिर सोच-सोचकर उसने रोजनामचा खोला और रपट दर्ज करने लगा।

उसने पूछा, "तुम्हारा नाम ?"

"गधा।"

"बाप का नाम ?"

"गधा।"

"दादा का नाम ?"

---

[1] जहां लावारिस पशुओं को बन्द कर रखा जाता है।

"गधा।"

"यह क्या बकवास है?" हेड कान्स्टेबल ने क्रोधपूर्वक कहा "सबका एक ही नाम है! यह कैसे हो सकता है? अब मुझे देखो, मेरा नाम ज्योतिसिंह है। मेरे बाप का नाम प्यारेलाल था। मेरे दादा का नाम जीवनदास था। हमारे यहां नाम बदलते रहते हैं, तुम जरूर झू बोलते हो।"

ज्योतिसिंह मुझे सन्देह की नजरों से देखने लगा।

मैंने कहा, "हुजूर, मैं झूठ नहीं बोलता, सच कहता हूं कि हमारे यहां नाम नहीं बदलते। जो बाप का नाम होता है, वही बेटे का, वही पोते का।"

"इससे क्या लाभ?" ज्योतिसिंह ने पूछा।

"इससे वंशावली मिलाने में सुविधा होती है। उदाहरणस्वरूप क्या आप मुझे अपने परदादा के परदादा का नाम बता सकते हैं?" मैंने ज्योतिसिंह से पूछा।

"नहीं!" ज्योतिसिंह ने अफसोस प्रकट किया।

"मगर मैं बता सकता हूं! आपके यहां वह आदमी बड़ा खानदानी समझा जाता है, जो आज से चार सौ, छः सौ, आठ सौ, सोलह सौ साल पहले के अपने पुरखों का नाम बता सके। देखिए, मैं आपको आज से सोलह सौ क्या, सोलह लाख साल पहले के अपने पुरखे का नाम बता सकता हूं—श्री गधा! बोलिए, फिर क्या हम गधे आपसे बेहतर खानदान के हुए या नहीं?"

ज्योतिसिंह ने बड़े ध्यान से मेरी ओर देखा। उसका सन्देह और बढ़ गया। उसने धीमे स्वर में रामसिंह से कानाफूसी करते हुए कहा, "मुझे यह शख्स बड़ा खतरनाक मालूम होता है। हो न हो, यह कोई विदेशी जासूस है, जो गधे के लिबास में नई दिल्ली के चक्कर लगा रहा है!"

रामसिंह ने कहा, "हुजूर ! मैं तो समझता हूं, इसकी खाल उतरवाकर देखना चाहिए, भीतर से खुफिया जासूस निकल आएगा। फिर हम इसे फौरन गिरफ्तार कर लेंगे।"

ज्योतिसिंह ने कहा, "तुम बिलकुल ठीक कहते हो। लेकिन इसके लिए सब-इंस्पेक्टर चाननराम की आज्ञा लेना बहुत जरूरी है। चलो, इसे उनके सामने ले चलें।"

मेरे कान में भी कुछ भनक पड़ गई थी, लेकिन मैं कान लपेटे चुप रहा और उन दोनों के साथ भीतर के कमरे में सब-इंस्पेक्टर चाननराम के सामने चला गया। चाननराम की मूछें बिच्छू के डंक की तरह खड़ी थीं और उनका सुर्ख चेहरा हर समय तमतमाया रहता था। चाननराम को आज तक किसीने हंसते या मुस्कराते हुए नहीं देखा था, इसलिए लोग उसे एक योग्य पुलिस-अफसर समझते थे। चाननराम ने उनकी पूरी बात सुनकर मेरी ओर घूरकर देखा और कहा, "हूं ! तो तुम पाकिस्तान के जासूस हो ?"

मैं चुप रहा।

चाननराम ने जोर से मेज में मुक्का मारकर कहा, "समझ गया, तुम रूस के एजेण्ट हो।"

मैं फिर भी चुप रहा।

चाननराम ने दांत पीसते हुए कहा, "कमबख्त ! बदमाश ! कम्युनिस्ट ! मैं तुम्हारी हड्डी-पसली एक कर दूंगा, वरना जल्द बताओ, तुम कौन हो ?"

यह कहकर चाननराम मुझे मुक्कों, लातों और ठोकरों से मारने लगा। मारते-मारते जब वह बिलकुल बेदम हो गया तो मैंने जोर से एक दर्द-भरी आवाज की। आवाज करते ही वह रुक गया और पहले मेरी ओर आश्चर्य से देखकर और फिर अत्यन्त क्रोध से ज्योतिसिंह और रामसिंह की ओर देखकर बोला, "अरे, यह तो बिलकुल गधा

है। और तुम कहते हो, यह कोई विदेशी जासूस है। तुम मुझसे मज़ाक करते हो! मैं अभी तुमको डिसमिस करता हूं।"

रामसिंह और ज्योतिसिंह दोनों भय से थर-थर कांपने लगे। हाथ जोड़कर बोले, "हुज़ूर! अभी यह बाहर के कमरे में बोल रहा था; साफ-साफ बोल रहा था, बिलकुल इन्सानों की तरह।"

"तुमने सपना देखा होगा या काम करते-करते तुम्हारा दिमाग खराब हो गया होगा। जाओ, इस गधे को मेरे सामने से ले जाओ और कांजीहाउस में बन्द कर दो। अगर तीन-चार दिन में इसका मालिक न आए तो नीलाम कर देना।"

मैं खुशी-खुशी बाहर आया। मेरी चाल काम कर गई। अगर मैं बोलता तो वे लोग निश्चय ही मेरी खाल उधेड़कर देखते कि भीतर कौन है।

इसके बाद तीन-चार दिन तो क्या एक हफ्ते तक कोई मालिक न आया। फिर मुझे नीलाम कर दिया गया। अब के मुझे रामू धोबी ने खरीद लिया जो जमुना पार कृष्णनगर में रहता था।

'मानस' की धर्मभूमि

[पं० रामचन्द्र शुक्ल]

धर्म को रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं[1] कह चुके हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व-स्थिति मे मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रो से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा मे सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते है, भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढी हुई भावना हमे प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुलनायक या कुलदेवता तक ही पहुचेगी, किसी जाति या देश-विशेष के भीतर जो करेंगे उनकी भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुचकर रह जाएगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जाकर सन्तुष्ट नही होती। वह अखिल विश्व के बीच सत् की प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है। उसके भीतर का 'चित्त' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब आनन्द का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान का सामीप्य-लाभ करता चला जाता है। इसीसे तुलसी को

---

[1] देखिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—भक्तिकाल-सामान्य परिचय।

—रामचन्द्र शुक्ल

राम 'अन्तरजामिहु तें बड़ बाहरजामि' लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसमें सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊंची-नीची कई भूमियां लक्षित होती हैं, जैसे गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्णधर्म अंगी है और शेषधर्म अंग। पूर्णधर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्णपुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म पर दृष्टि रखनेवाला लोक या समस्त मनुष्य-जाति की रक्षा देखकर आनन्द का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्धधर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते है, जिनके भगवान पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। अतः वे कीट-पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनन्द प्राप्त करते है। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनन्द भी उच्च कोटि का होता है।

धर्म की जो ऊंची-ऊंची भूमियां ऊपर कही गई है, वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हैं; उनके पालन के स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है; इसी प्रकार निम्न भूमि के

धर्म का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटनेवाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं, अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देनेवाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह दिखा चुके हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। राम के लीलाक्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान की इस स्थिति-विधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमाकर, जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य-ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आँख मूँदे अपने अन्तःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूँढा करते हैं, उनके मार्ग से गोस्वामीजी का भक्तिमार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़कर, धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है, तब मानो भगवान उसकी दृष्टि से—खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्म-ज्योति फूट पड़ती है, तब मानो उसके प्रिय भगवान का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय[1] और निःश्रेयस[2] दोनों की सिद्धि कही गई है। अतः मोक्ष का—किसी ढंग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिलकुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर

---

[1] ऐहिक उन्नति (सुख) [2] मुक्ति (पारलौकिक सुख)

व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है। साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रखकर धर्म और उपासना को अंगरूप में लेकर चले; कोई भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अंगरूप में रखकर चले। तुलसीदासजी भक्ति को प्रधान रखकर चलनेवाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति-भावना में यद्यपि तीनों का योग है, पर धर्म का योग पूर्ण परिमाण में है। धर्म-भावना का उनकी भक्ति-भावना से नित्य सम्बन्ध है।

'रामचरितमानस' में धर्म की ऊंची-नीची विविध भूमियों की झांकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं-कहीं कुछ शंकाएं भी उठती हैं; उदाहरण के लिए, भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य-दीप्ति से हमारा हृदय जगमगा उठता है, उन्हींको अपनी माता को चुन-चुनकर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग सन्देह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे उन्होंने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उल्लंघन कैसे कराया ? धर्म की विविध भूमियों के सम्बन्ध में जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आए हैं उनपर दृष्टि रखकर यदि समझा जाए तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आए हैं कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के दुःख-सुख से सम्बन्ध रखनेवाला होगा, उतनी उच्च श्रेणी का माना जाएगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहां धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार

दिखाई पड़ेगा वहा उत्कृष्ट पात्र के हृदय मे भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्मस्वरूप है, क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीसे है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नही उसे धर्म प्रिय नही, इसीसे गोस्वामीजी कहते हैं :

> जाके प्रिय न राम बैदेही
> सो नर तजिय कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥[1]

इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो जाती है, दशरथ प्राणत्याग करते हैं। भरत कोई संसारत्यागी विरक्त नही थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण कटु वचन तक न कहते तो उनके राम-प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का उनकी मनोवृत्तियो के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता ? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहां लगाया जाएगा ? भरत धर्मस्वरूप भगवान रामचन्द्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गए हैं। अत. काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष[2] के द्वारा उनके राम-प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना एक विशेष लक्ष्य रखती है। महाकाव्य या खण्डकाव्य के भीतर जहा पर क्रूर और निष्ठुर आघात सामने आता है वहा श्रोता या पाठक का हृदय अन्यायी का उचित दण्ड—धिग्दण्ड के रूप मे सही—देखने के लिए छटपटाता है। यदि कथावस्तु के भीतर उसे दण्ड देनेवाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है। इसके लिए भरत से बढ़कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकता था ! जिन भरत के

---

1. विनयपत्रिका 2 क्रोध

लिए ही कैकेयी ने सारा अनर्थ खड़ा किया वे ही जब उसे धिक्कारते, तब कैकेयी को कितनी आत्मग्लानि हुई होगी! ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था। इस दरजे की आत्म-ग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नहीं की जा सकती थी।

सारांश यह है कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किस परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबाध व्यंजना के लि मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।

अब विभीषण को लीजिए, जिसे गृहनीति या कुलधर्म के स्थू और संकुचित दृष्टि ने लोग 'घर का भेदिया' या भ्रातृद्रोही कह सक हैं, तुलसीदासजी ने उसे भगवद्भक्त के रूप में लिया है। उसे भक्तों श्रेणी में दाखिल करते समय, गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुल धर्म की संकुचित सीमा के भीतर बधी न रहकर व्यापक लक्ष्यवाले ध की ओर थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीष को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोकपीड़क है, उस अत्याचार से तीनों लोक व्याकुल हैं, उसके अनुयायी राक्षस प्रकार लोगों को सताते हैं और ऋषि-मुनियों का वध करते हैं। विभीष इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होक भी लंका के एक कोने में साधु-जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय अखिल लोकरक्षक भगवान की भक्ति है।

सीता-हरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँच दिखाई पड़ता है। हनुमान से भेंट होने पर उसे (विभीषण को) धर्म स्वरूप भगवान के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसक उच्च धर्म-भावना और भी जग पड़ती है। वह अपने बड़े भाई राव को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता तब उसके मा

ो धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृहधर्म या कुलधर्म पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन ा। भक्त की धर्म-भावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध हीं रह सकती। यह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर ृत्त होती है। अतः वह उस लोक-कल्याण-विधायक धर्म का अवलम्बन ता है और धर्ममूर्ति भगवान श्रीराम की शरण में आता है।

सहकारिता

[ना० नागप्पा]

प्राणी-मात्र के जीने के लिए खाना-पीना जरूरी है। उसी तरह सुखी और शांत जीवन के लिए सबका मिल-जुलकर रहना जरूरी है। मिल-जुलकर रहने से हम एक-दूसरे का सुख-दुःख समझ सकते हैं। इससे आपस में सहायता की प्रेरणा पैदा होती है। यही सहकार की बुनियाद है। इसी परस्पर सहकार की बुनियाद पर समाज की व्यवस्था टिकी हुई है। मसलन, गांवों में किसान खेती-बारी में एक-दूसरे की मदद करते हैं। इसमें शारीरिक श्रम के अतिरिक्त रुपया-पैसा नहीं लगता। इस तरह एक-दूसरे की मदद करने की प्रणाली ही 'सहकार' है। गांवों में अब भी यह क्रम चलता है। इसी क्रम के अनुसार अगर हम बड़े पैमाने पर काम करें, तो अमीर-गरीब सभीका फायदा होगा।

"गांव के लोग शहर से चीजें खरीदते हैं। वे अपने गांव की चीजें शहर में ले जाकर बेचते है। यदि वे अलग-अलग चीजें खरीदने जाते हैं तो ठगे जाते हैं। गांव के सब लोग मिलकर तय कर सकते हैं कि हमें इस महीने में इतनी चीजें खरीदनी हैं। बाद को उनकी तरफ से एक बुद्धिमान आदमी उन्हें खरीदकर ला सकता है। तब सस्ते दामों पर चीजें मिलेंगी। दाम वाजिब होंगे। इसके अलावा कमीशन भी मिलेगा। इसी तरह यदि गांव का गेहूं, चावल और दूसरा अनाज मिलकर बेचा जाए, तो किसानों को ज्यादा दाम मिल जाए। अनाज काटने के बाद

थोडा ठहरकर बेचा जाए तो किसानो को ज्यादा दाम मिल सकते हैं।"[1]

मान लीजिए कि किसी गरीब किसान को पैसे की जरूरत पडती है। वह अपने गाव के एक महाजन के पास जाता है। वह उस गरीब की जरूरत देखकर मनमाना सूद मागता है। बेचारे गरीब को लाचार होकर उतना सूद देना पडता है। महाजन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो से भिन्न-भिन्न दरो पर सूद वसूल करता है। ऐसे महाजनो से लोगो को बचाकर मुनासिब दर-ब्याज पर कर्ज देने की व्यवस्था सहकारी बैंको के द्वारा होती है। इन बैंको से लिए हुए कर्ज को मासिक या वार्षिक किस्तो में अदा करने की सुविधा होती है। इस व्यवस्था मे कर्ज के बचे हुए अदा पर ही सूद वसूल किया जाता है। इस तरह कर्ज चुकते-चुकते सूद भी घटता है। किसान लोग भूमि-बधक सहकारी बैंको[2] से अपनी खेती के लिए आवश्यक धन लम्बी या छोटी मुद्दत की अदाई की शर्त पर पाते हैं और वार्षिक किस्तो मे उसे अदा करते हैं। शहरो मे भी सहकारी बैंक होते हैं जिनमें सदस्यो को मासिक किस्तो की अदाई पर कर्ज मिलता है। इस सुविधा से गरीबो की काफी सहायता होती है।

देश में रोजगार करके पैसा कमानेवाले सहकारी बैंको मे अपनी शक्ति के अनुसार पैसा जमा कर सकते हैं। इस तरह हर महीने एक-एक रुपया जमा करते जाने से तीन बरस के बाद नियमानुसार अडतीस या उनतालीस रुपये मिलते हैं। पैसा बचाने की यह व्यवस्था बडी अच्छी है। इस तरह सैकडो रुपये जमा किए जा सकते हैं। ऐसी पद्धति को सरक्षण-कोष पद्धति कहते हैं।[3]

आजकल आवश्यक खाद्य-पदार्थों के न मिलने से जनता का बुरा हाल है। व्यापारी लोग ऐसी परिस्थिति से बेजा फायदा उठाते हैं।

---

[1] 'योजना' के 15 6-57 के अक पर आधारित

[2] Cooperative Land Mortgage Banks

[3] Provident Fund System

वे माप-तोल, भाव-ताव और कमी-बेशी से नाजायज़ फायदा उठाकर पैसा कमाते हैं, इससे जनता को तकलीफ होती है। उपभोक्ता-सहकारी-संघों[1] में सभी आवश्यक चीज़ें निश्चित दाम पर बेचने की व्यवस्था होती है। इन संस्थाओं में ग्राहकों को मोल-तोल में कोई धोखा नहीं होता। अल्प-मात्रा में उपलब्ध पदार्थों का भी इन्हीं संघों के द्वारा सदस्यों में वितरण होता है। इस पद्धति से जनता को सुख मिलता है और वह अनीति के रास्ते पर चलनेवाले व्यापारियों के चंगुल से बच जाती है।

दलाल लोग किसानों की आवश्यकता पर निगाह रखते हैं और मौका पाकर उनकी चीज़ों को कम दाम में खरीदने की ताक में रहते हैं। किसानों की फसल कटने भी नहीं पाती कि वे उनके दरवाज़े पर पहुंच जाते हैं। वे महाजनी का ज़ोर डालकर उपज का कम से कम भाव ठहरा लेते हैं।

उत्पादक-सहकारी-संघ[2] किसानों का अनाज जमा करा लेते हैं। मान लीजिए कि तिल ऐसे संघ में जमा हो गया। तिल से तेल निकालकर यह संघ उपभोक्ता-सहकारी-संघों में बेचने की व्यवस्था करता है। इससे किसानों को अपने अनाज का मुनासिब दाम मिल जाता है। वे दलालों के जाल से बच जाते हैं। आवश्यकता के अनुसार यह संघ किसानों को फसल या अनाज पर कर्ज़ भी देता है। इस तरह किसानों को अपने परिश्रम का योग्य प्रतिफल मिलता है और वे व्यर्थ के शोषण से बचते हैं।

उपभोक्ताओं की आवश्यकता के अनुसार उनके संघों की व्यवस्था होती है। अनाज उपजानेवाले किसानों की आवश्यकता का ख्याल उत्पादक-सहकारी-संघ से किया जाता है। परन्तु विविधोद्देश्य-सहकारी संस्थाएं[3] दोनों की सहायता करती हैं। इन संस्थाओं में किसानों के सारे

---

[1] Consumers' Cooperative Societies

[2] Producers' Cooperative Societies

[3] Multipurpose Cooperative Societies

उत्पादन जमा होते हैं। उन्हें उस रूप में परिवर्तित किया जाता है जिस रूप में उनका उपभोग होता है, यानी तिल का तेल निकालकर बेचा जाता है। धान का चावल बनवाकर विक्रय किया जाता है। शीकाई (Soap-nut) पिसाकर बेची जाती है। इससे किसानों का और भी अधिक लाभ होता है। और उनके लिए आवश्यक खाद, मिट्टी का तेल, नमक, खेती-बारी के सामान इन संघों से मिल जाया करते हैं। आज भारत के हर राज्य में ऐसी विविधोद्देश्य-सहकारी-संघों की स्थापना हो रही है। किसानों की उपज बेचने के साधन इनसे बढ़कर हो नही सकते। सरकार की राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास की योजना के अन्तर्गत यह सारा कार्य आजकल चल रहा है।

सहकार-सिद्धान्त का उपभोग उद्योग में भी हो सकता है। मान लीजिए कि कोई मिल चालू करनी है। मजदूर ही दस-दस या बीस-बीस रुपये के हिस्से खरीदकर मिल के लिए आवश्यक पूंजी जमा कर सकते हैं। इस तरह खड़ी की गई मिल के मजदूर ही मालिक होते हैं। मजदूरों को अपनी मेहनत का मेहनताना मिलता है और ऊपर से मिल में फायदा होने पर उसका लाभांश भी उन्हीको मिलता है। मालिक-मजदूरों के झगड़ों की ऐसी मिलों में गुंजाइश नही होती।

सहकार-पद्धति संसार में बलहीनों को हर तरह के शोषण से बचाती है। वह मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए वरदान है। सारा संसार इससे सुखी हो सकता है